जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 9 • सितंबर, 2003

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ :

श्रीLAXMI™

बच्छराज विनोदकुमार बाँठिया

चूरू • सूरत • हैदराबाद • कोयम्बटूर

श्री लक्ष्मी ऑटोमोबाइल्स

जे. के. टॉवर, रिंग रोड, सूरत-2

मोबाइल : 9824114920

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • सितंबर, 2003 • अंक 9

विमर्श

9
समणी मंगलप्रज्ञा
जैन आगम साहित्य : उद्भव और सर्वमान्यता

21
दयालचन्द्र सोनी
आत्मगत शिक्षण : लक्ष्य और स्वरूप

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सत्यान्वेषी पंथ-संचालक

30
मुनि रमेशकुमार
समर्पित शिष्य : दक्ष शिल्पकार

35
चतरसिंह मेहता
ज्ञान तो केवल आत्मज्ञान

39
कहानी
प्रेमचंद
परीक्षा

42
कविता
अरविंद ओझा की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
जीवन-मूल्य और पुरुषार्थ

शीलदा

45
साध्वी सुमतिप्रभा
मोहन से महाश्रमण—एक अनुपम पड़ाव

48
साध्वी जिनप्रभा
पढमं नाणं तओ दया

51
बालकथा
अमर गोस्वामी
मुक्ति का संदेश

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

परिपूर्ण स्वातंत्र्य का अगर किसी को अधिकार है, तो वह सबसे ज्यादा विद्यार्थियों को है। बिना श्रद्धा के विद्या नहीं मिलती। इसलिए श्रद्धा रखनी ही चाहिए, पर श्रद्धा के साथ-साथ बौद्धिक स्वातंत्र्य की भी उतनी ही आवश्यकता है। बहुत लोगों को लगता है कि श्रद्धा और बुद्धि अलग हैं, पर यह गलत विचार है। जैसे कान और आंख अलग-अलग शक्तियां हैं और दोनों का आपस में विरोध नहीं है, उसी तरह श्रद्धा और बुद्धि की बात है। अगर श्रद्धा नहीं है, तो विद्या की प्राप्ति असंभव है। माता बच्चे को चांद दिखाती है और कहती है : 'देखो बेटा, यह चांद है'। अगर बच्चे की माता में श्रद्धा न रही और उसे शंका हुई कि माता जो दिखा रही है, वह चांद है या नहीं, यह कौन जाने, उसे ज्ञान नहीं होगा।

इसलिए ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धा एक बुनियादी चीज है। ज्ञान का आरंभ ही श्रद्धा से होता है। लेकिन ज्ञान की परिसमाप्ति बुद्धि में है। श्रद्धा से ज्ञान का आरंभ होता है और समाप्ति स्वतंत्र-चिंतन से होती है। इसलिए विद्यार्थियों को चिंतन-स्वातंत्र्य का अपना अधिकार कभी नहीं खोना चाहिए। जो शिक्षक विद्यार्थियों पर जबरदस्ती करता है, वह शिक्षक नहीं है। शिक्षक तो वह होगा, जो यह कहेगा कि मेरी बात जंचे तो मानो और अगर न जंचे तो हरगिज मत मानो। इस तरह जो बुद्धि-स्वातंत्र्य देगा वही सच्चा शिक्षक है। क्योंकि बुद्धि-स्वातंत्र्य ही सच्चा स्वातंत्र्य है। महापुरुषों के लिए आदर और श्रद्धा जरूर रखी जाए, लेकिन कोई महापुरुष है, इसलिए उसकी बात मानना गलत है। मुझे तो उस वक्त बहुत खुशी होती है, जब मेरी बात किसी को जंचती नहीं, इसलिए वह उसे कबूल नहीं करता। किसी को बात जंचती है और वह उसे कबूल करता है, इसकी भी मुझे खुशी होती है। लेकिन मेरी बात तो न जंचे और फिर भी उसे कोई कबूल करे, तो मुझे अत्यंत दुख होता है। इसलिए हम कहते हैं कि बुद्धि-स्वातंत्र्य होना चाहिए। उसके लिए बेहतर शब्द 'चिंतन-स्वातंत्र्य' होगा। हमें अपने चिंतन-स्वातंत्र्य पर प्रहार न होने देना चाहिए और अपनी स्वतंत्रता का हक सुरक्षित रखना चाहिए। विद्यार्थियों का यह अधिकार दुनिया में छीना जा रहा है। इसलिए मैं विद्यार्थियों को आगाह कर देना चाहता हूं। इन दिनों 'डिसिप्लिन'—अनुशासन के नाम पर विद्यार्थियों के दिमागों को यंत्रों में ढालने की कोशिश हो रही है। मैं अनुशासन में विश्वास करता हूं और यह भी जानता हूं कि अनुशासन के बिना काम नहीं बनेगा। घर में आग लगी है, वहां 'डिसिप्लिन' न हो, तो केवल गड़बड़ ही हो जाएगी। चंद लोग 'डिसिप्लिन' के साथ आग बुझाने जाएंगे, तो जितना जल्दी और अच्छी तरह काम होगा, उतना बहुत-से लोग जाएंगे और उनमें 'डिसिप्लिन' न हो, तो नहीं होगा। लेकिन आज 'डिसिप्लिन' के नाम पर सब जगह यंत्रीकरण हो रहा है और विद्यार्थियों के दिमागों पर बहुत बड़ा प्रहार हो रहा है।

—विनोबा

आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है; बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है; बड़ों के लिए छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है—इन धारणाओं का मूल्य रागात्मक प्रवृत्ति है और उनका आचरण भी रागात्मक है। इसलिए यह सारा हिंसा-पक्ष है।

जीव जीव का जीवन है—वह प्राणी की विवशता है, पर अहिंसा नहीं है। बहुसंख्यकों के हित के लिए अल्पसंख्यकों का अहित क्षम्य है, वह जनतंत्र का सिद्धांत है, पर अहिंसा नहीं है। बड़ों के लिए छोटों का बलिदान क्षम्य है, यह राजतंत्र की मान्यता है, पर अहिंसा नहीं है।

इन सिद्धांतों से आत्मौपम्य या सर्वभूतात्मभूतवाद की रीढ़ टूटी है। विवशता, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक तथा छोटे और बड़े के प्रश्न हिंसा के क्षेत्र में उठते हैं, अहिंसा का स्वरूप इन सभी प्रश्नों से मुक्त है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

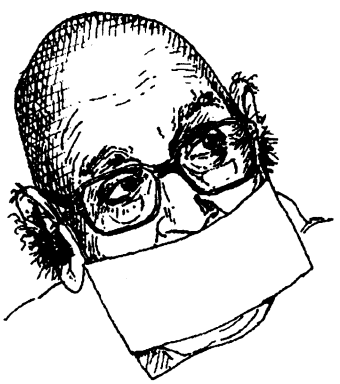

एक समय था, भारत की अपनी विचार शैली और जीवन शैली थी। आज भारतीय लोग उपभोग सामग्री पर ही नहीं, विचारों पर भी विदेशी मार्का देखने के आदी हो रहे हैं। आयातित विचारधारा के प्रति उनका जो आकर्षण है, भारतीय संस्कृति के सनातन सिद्धांत उसके सामने फीके हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में नए मानव के निर्माण की जरूरत है। मानव चरित्र को सुधारने के लिए हर युग में प्रयत्न होते रहे हैं। लगता है, अब सुधार से काम नहीं चलेगा। नए निर्माण के लिए समूल रूपांतरण की अपेक्षा रहती है। जीर्ण-शीर्ण कपड़े में कितने पैबंद लगाए जा सकते हैं? आखिरी समाधान तो उसे बदलने में ही संभव है। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान—इस त्रिआयामी कार्यक्रम के आधार पर नए मानव के निर्माण की प्रक्रिया को व्यावहारिक बनाया जा सके तो सही अर्थ में नई सदी या नए युग का प्रवेश सार्थक हो सकता है।

उस युग में मनुष्य की महत्ता सत्ता, संपदा और शक्ति के आधार पर नहीं होगी। उस युग में जातिवाद, प्रांतवाद, भाषावाद और संप्रदायवाद के घेरों में मनुष्य विभक्त नहीं होगा। केवल मनुष्यता के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन करने वाला युग ही वास्तव में नए युग की प्रतिष्ठा को स्थापित कर सकेगा।

—आचार्यश्री तुलसी

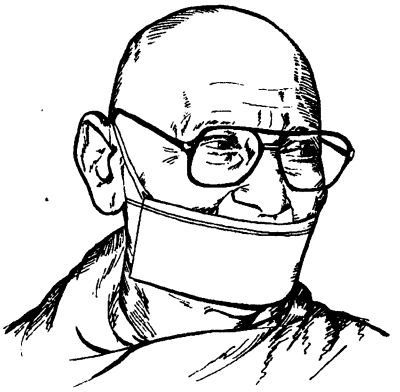

हम आज हिंसा की भाषा से जितने परिचित हैं उतने अहिंसा की भाषा से परिचत नहीं हैं। हिंसा की भाषा हमारे लिए जितनी सहज और प्रिय है, उतनी सहज और प्रिय नहीं है अहिंसा की भाषा। जहां अहिंसा का प्रश्न आता है, वहां तत्काल यह स्वर सुनाई देता है—यह कैसे संभव होगा? कोई आक्रमण करे और आदमी अहिंसक बनकर बैठा रहे तो क्या होगा? हर प्रश्न पर—'यह कैसे संभव है'—प्रतिप्रश्न आएगा। क्योंकि हम अहिंसा से पूर्ण परिचित नहीं हैं। जिसके प्रति हमारी आस्था निर्मित न हुई हो, वह बात जब सामने आती है तब हम उसे टालने का पूरा प्रयत्न करते हैं। आज अहिंसा का सारा चिंतन टाला जा रहा है, नकारा जा रहा है। उसे स्वीकार करने की बात ही नहीं आती। लोग कह देते हैं—यह तो श्रुतिप्रिय है, व्यवहार्य नहीं है। व्यवहार में जीने वाला आदमी व्यावहारिक बात सोचता है। आज व्यावहारिक बात बनी हुई है हिंसा। व्यावहारिक बात लगती है कृत की प्रतिक्रिया करना। हिंसा और प्रतिक्रिया से आदमी बहुत परिचित है। यह स्वभाव-सा बन गया है। अहिंसा में क्रिया है, प्रतिक्रिया नहीं।

प्रत्येक आदमी का अभ्यास, परिचय और संगति हिंसा के साथ जुड़ी हुई है। यदि गहरे में उतरकर देखा जाए तो ज्ञात होगा कि आदमी चौबीस घंटों में अहिंसा का जीवन ज्यादा जीता है और हिंसा का जीवन कम जीता है। मैं सोचता हूं, यदि आदमी एक दिन भी हिंसा का जीवन पूरा जी ले तो दूसरे दिन हिंसा अपनी मौत मर जाएगी। उसकी बात ही समाप्त हो जाएगी। हिंसा अहिंसा के कंधे पर चढ़कर अपने अस्तित्व को कायम रखती है। यह अमरबेल है। अमरबेल का अस्तित्व दूसरे पेड़ों के अस्तित्व पर टिका रहता है। वह बेल दूसरे के शोषण पर अपने अस्तित्व को टिकाए रखती है। दूसरों का शोषण और अपना जीवनयापन।

उसका अपना कुछ भी नहीं है। वह वृक्षों पर ही उत्पन्न होती है, वृक्षों पर ही फैलती है, वृक्ष का शोषण करती जाती है और स्वयं बढ़ती जाती है। इसी प्रकार हिंसा की भी प्रकृति उस अमरबेल की तरह है। उसके कोई जड़ नहीं होती। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। वह अहिंसा के पेड़ पर अपना अस्तित्व टिकाए रहती है। यदि हम हिंसा की इस प्रवृत्ति को समझ लें तो अहिंसा सार्वभौम का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। पर हम प्रकृति के विश्लेषण में कम जाते हैं। हम न अपनी प्रकृति का विश्लेषण करते हैं और न आचरण की प्रकृति का विश्लेषण करते हैं। बहुत-सारी बातों को ऐसे ही स्वीकार कर लेते हैं। सामने कुछ आता है और तत्काल स्वीकार कर लेते हैं। यह सबसे बड़ी कठिनाई है। यह मानता हूं कि विचार का द्वंद्व है, पर यह प्रकृति-विश्लेषण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, उपयोगी है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
सितंबर, 2003

प्रसंग

जीवन-मूल्य और पुरुषार्थ

नैतिकता और समता को हम जीवन के बुनियादी मूल्य मानें तो बहुत-से पक्ष इनसे जुड़ते चले जाएंगे। सत्य, प्रेम और अहिंसा जैसे तत्त्व भी तभी फलदाई होंगे जब हम नैतिकता और समता को अपना जीवन-मूल्य मानें तथा तदनुरूप पुरुषार्थ करें।

नैतिकता, समता, प्रेम, सत्य और सौहार्द तब तक शोभाऊ-भर कहलाएंगे जब तक हमारा पुरुषार्थ उनके अनुरूप न हो। कहने को तो वह भी पुरुषार्थ ही कहलाएगा जो आतंकवादी, कालाबाजारी और लूट करने वालों द्वारा होता है। देखा जाए तो उनकी साहसिकता भी अकाट्य होती है और जिस तरह की जोखिम ऐसे लोग उठाते हैं, शायद अन्य लोग न उठा सकें। पर ऐसा पुरुषार्थ किसी के भी लिए हेय ही कहलाएगा और सामान्यतया इस तरह के कर्म को पुरुषार्थ की गणना में भी नहीं माना जाएगा।

पुरुषार्थ के पीछे श्रेय का भाव तो अनिवार्यतः जरूरी होता है। वह पुरुषार्थ निंदनीय ही नहीं, तिरस्कार की श्रेणी में ही आएगा जिसमें लोक का हित निहित न हो। 'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय' पुरुषार्थ ही सामाजिक स्तर पर स्वीकार्य हो सकता है। अतः साहसिकता भी वही है जिसमें ऐसे भाव समाहित हों, अन्यथा हम उसे दुःसाहसिकता मानेंगे, बल्कि कहना चाहिए वह एक हद दर्जे की पाशविकता या कि नृशंसता ही कही जा सकती है।

हम नैतिक क्यों हों? प्राणी-जगत में यह प्रश्न सर्वाधिक रूप से मनुष्य-जाति से ही पूछा जा सकता है। सहज रूप में यही कहा जा सकता है कि मनुष्य का जीवन किसी भी रूप में एकांगी नहीं हो सकता तथा वह एक सामाजिक प्राणी है और अन्य प्राणियों की तुलना में उसकी विचारशीलता अधिक उन्नत व प्रखर है, अतः अपने जीवन को अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए उसका नैतिक होना जरूरी है। यह भी कहा जा सकता है कि—मनुष्य की तुलना में भले कम हो—अन्य प्राणियों में भी सामाजिकता के अंश देखे जा सकते हैं, जैसे कि भेड़ों के झुंड में या चींटियों की चल रही कतार में, पर उनमें नीर-क्षीर विवेक की क्षमता नगण्य होती है, जो कि मनुष्य में सर्वाधिक रूप से विद्यमान है। अतः जिन अर्थों में सामाजिकता की अपेक्षा है, वह केवल मनुष्य में ही पाई जा सकती है।

परंतु आज मनुष्य की हालत निरी चिंतनीय है। वह जितना विखंडित, विदीर्ण और विद्रूप अवस्था में आ पहुंचा है, यह समझना कठिनतर होता जा रहा है कि वह कैसे

नैतिक रह सकता है? मनुष्य की नैतिकता का सबसे बड़ा आधार उसका आचरण ही हो सकता है, पर हम देखते हैं कि जो-कुछ कहा जाता है—वह किया नहीं जाता और जो-कुछ किया जाता है—वह कहा नहीं जाता। यह विरोधाभासी स्थिति है और शीर्ष पर बैठे वे लोग, जो समूचे समाज को नेतृत्व देने की अवस्था में हैं, ऐसा विरोधाभासी जीवन जी रहे हैं। जाहिर है, सामान्य जन से तो अपेक्षा ही क्या की जा सकती है!

पर बदलाव या परिवर्तन का इतिहास यदि उठाकर देखें तो पाएंगे कि वह सदा नीचे से ही आया है। पुनर्जागरण के लिए यदि किसी स्तर पर उम्मीद की जा सकती है तो वह नीचे से ही हो सकती है। इतिहास साक्षी है कि भगवान महावीर ने खंड-खंड हो रहे समाज को नया रूप दिया था। उस काल में एक ओर चमत्कार और तंत्र-मंत्र का अमानुषिक तांडव हो रहा था तो दूसरी ओर जातीय वैमनस्य, कर्मकांड तथा स्त्री-जाति के दमन का दौर चल रहा था। तब महावीर ने पुनर्जागरण का निनाद किया था। आध्यात्मिक स्तर पर उनके क्रांतिकारी विचार एक ओर अकाट्य होते जा रहे थे तो दूसरी तरफ उनका तीव्र विरोध भी हो रहा था, पर लोकहित के लिए उनका पुरुषार्थ परवान पर था। वर्णाश्रम व्यवस्था को उन्होंने ही नया रूप दिया था। जिस जातिवाद का घमासान आज हम जीवन में देख रहे हैं, महावीर ने सबसे पहले उसी को अप्रतिष्ठित किया। आज हम पाते हैं कि हमारे देश में राजनीतिक सत्ता हासिल करने में जातिवाद ही मजबूत पतवार मानी जाने लगी है और उससे उपज रहे दुष्फल समाज की नींव को खोखला कर रहे हैं। महावीर ने उसे तब तोड़ गिराया था।

महावीर ने अपने काल में—'एक्का मणुस्स जाई—मानव जाति एक है'—सिद्धात को प्रतिष्ठा दी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जन्मना नहीं, कर्मणा होते हैं—महावीर ने यह स्थापना ही नहीं की, चांडाल कुल में जन्मे एक व्यक्ति को अपने हाथों दीक्षित कर यह साबित किया कि कैसे एक चांडाल कर्म से महामुनि (हरिकेश) बन जाता है।

भगवान महावीर की ही तरह इतिहास अपने को फिर दोहराता है। 244 वर्ष पूर्व संत भीखणजी हुए। संत भीखणजी का अभिनिष्क्रमण भी इतिहास की विरल घटना है। महावीर के काल की तरह यह हजारों वर्ष पुरानी नहीं है। संत भीखणजी ने जिन प्रश्नों को लेकर उत्क्रमण किया, उसमें भी मानवीय व नैतिक मूल्यों के उत्थान का उद्देश्य ही निहित था। यह वर्ष उनके निर्वाण का द्विशताब्दी वर्ष है। राष्ट्रीय स्तर पर गठित समिति संत भीखणजी के क्रांति-बीज का पुनः वपन कर सकेगी—यह अपेक्षा इस द्विशताब्दी वर्ष में की जानी चाहिए। इसके लिए सबसे पहले उन परिस्थितियों और प्रकारों को खंगालना जरूरी है, जो भीखणजी के अभिनिष्क्रमण के समय मौजूद थे और किस तरह अपने पुरुषार्थ के बल पर उन्होंने उन हालातों को मोड़ दिया था।

आमतौर पर ऐसे आयोजनों में कुछ स्थूल और सतही काम होकर ही रह जाते हैं, जैसे कि भगवान महावीर के 26सौवें जयंती वर्ष में हुए। दीर्घकालिक स्तर पर उनका प्रभाव क्या रहता है—यह कम ही देखा जाता है।

आज का मनुष्य जिस छद्म अवस्था में जी रहा है और पग-पग पर प्रवंचनापूर्ण व्यवहार में लीन हुआ देखा जा सकता है, ऐसे अवसर इस अवस्था को तोड़ने में सहायक हो सकें और बुनियादी जीवन-मूल्यों की प्रस्थापना में पुनर्जागरण का परचम लहराया जा सके—सार्थकता इसी में है।

जब-जब विषमता और अराजकता के अजगरों ने अपने पांव पसारे हैं, तब-तब धर्म और अध्यात्म ने नव-जागरण का निनाद किया है। जब जीवन की सारी विधाएं निस्तेज हो जाती हैं तो धर्म और अध्यात्म के बल पर समाज को नई दिशा मिलती है। जब सारे विश्वास डगमगाने लगते हैं तो धर्म, अध्यात्म और दर्शन का अवलंबन शेष रहता है।

आज सब तरह के पूर्वाग्रहों और पूर्व धारणाओं से मुक्त जीवन-मूल्यों की अपेक्षा है जो धर्म और अध्यात्म से ही निःसृत हो सकते हैं।

—शुभू पटवा

विमर्श

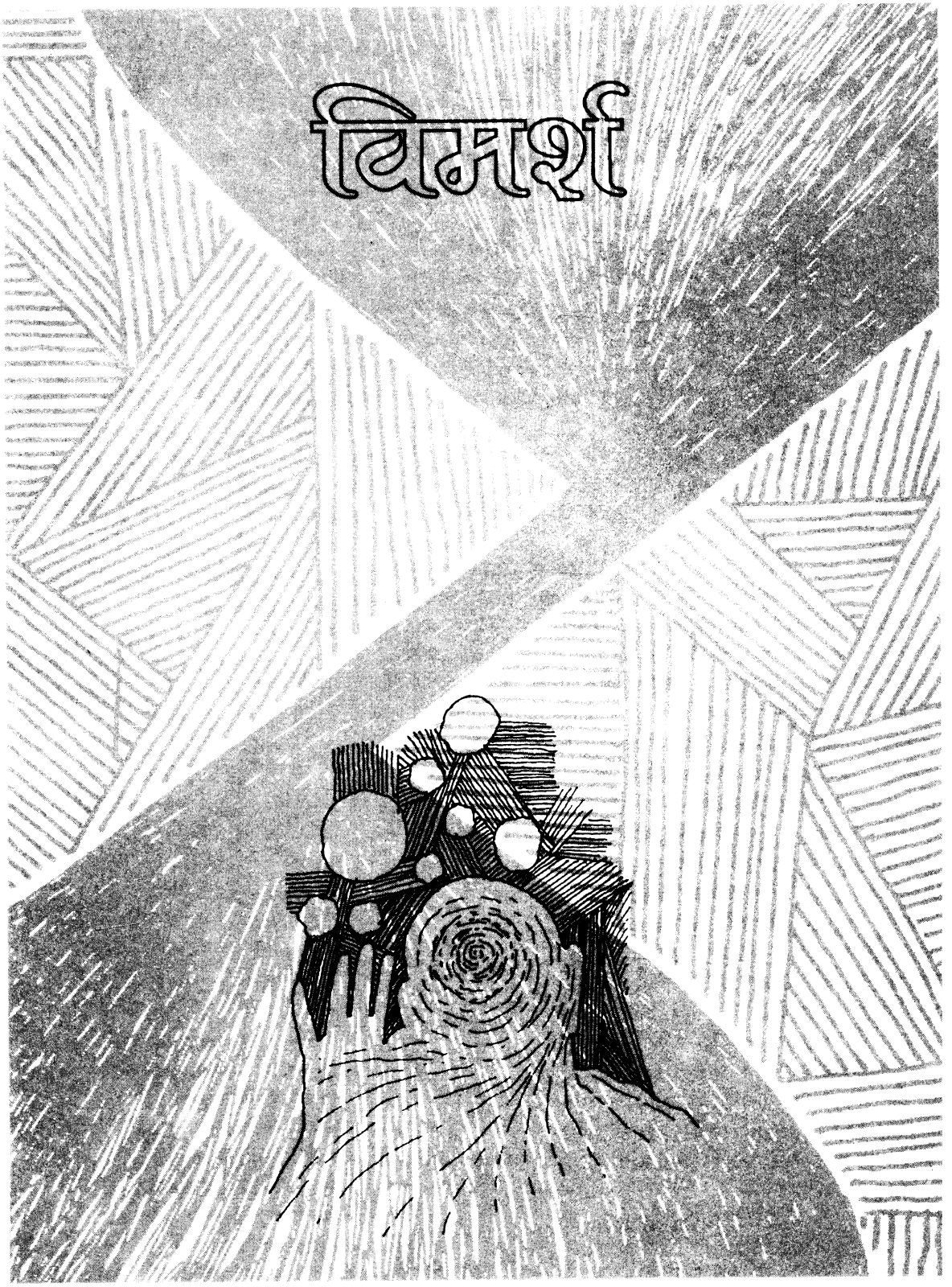

मनुष्य अपने वर्तमान रूप में अनेक विरोधी तत्त्वों का समवाय है। उसके आदर्शों और कार्यों में बहुत अंतर है। 'अच्छा काम, जो मुझे करना है, नहीं करूंगा और बुरा काम, जो मुझे नहीं करना है, मैं करूंगा।' यही मनुष्य का विरोध है। इससे मनुष्य की अपूर्णता का एहसास होता है। इसी से यह पता लगता है कि उसे किस प्रकार के अनुशासन से गुजरने की जरूरत है, किस प्रकार से अपने दिमाग को झकझोरने की जरूरत है ताकि वह विनाशकारी उद्वेगों से मुक्त हो सके और अपने स्वरूप को समन्वित करना शुरू कर दे। इसे मनुष्य का दूसरा जन्म कहा जाएगा। ऐसा व्यक्ति अपनी आंतरिकता, अपनी स्वाधीनता, अपनी विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठता—जो वस्तुनिष्ठ जगत के पदार्थों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, को पहचान लेता है।

—डॉ. राधाकृष्णन्

जैन आगम साहित्य : उद्भव और सर्वमान्यता

❑ समणी मंगलप्रज्ञा

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म व दर्शन का प्राचीनतम रूप हमें आगमों में ही उपलब्ध होता है। प्रामाणिकता की दृष्टि से भी आगम ही प्रमाण हैं। आचार्यों की वाणी आगम-संवादी होने पर ही प्रमाण मानी जाती है। जैन धर्म-दर्शन से संबद्ध ज्ञान के लिए भी आगम का महत्त्व स्वतःसिद्ध है। भारतीय दर्शन में ये सभी बातें सर्वमान्य हैं।

आगम की परिभाषा

'आङ्' उपसर्गपूर्वक भ्वादिगणीय 'गम्लृ-गतौ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर अथवा इसी धातु से कारण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर आगम शब्द निष्पन्न होता है।[1]

जैन परंपरा में आगम शब्द की व्याख्या मुख्यतः तीन प्रकार से की जाती है—

1. स्वयं आप्त-पुरुष ही आगम है।[2] 2. अर्थ-ज्ञान जिससे हो वह आगम है[3] अथवा आप्त का वचन आगम है।[4] 3. आप्त-पुरुष की वाणी से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आगम है।[5]

प्रथम व्याख्या के अनुसार आप्त-पुरुष आगम है, किंतु वर्तमान में आप्त-पुरुषों की अनुपस्थिति में उनका वचन तथा उस वचन से उत्पन्न होने वाले अर्थ-ज्ञान को भी आगम मान लिया गया है।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ है—यह विमर्शनीय है। यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की संकलना हैं तो अनेक स्थानों में विसंवाद क्यों?

जैन धर्म और दर्शन का समेकित दिग्दर्शन आगम वाणी से ही होता है। कालांतर में इन्हें आगमशास्त्र भी माना गया और जैन दर्शन व धर्म के लिए आगमशास्त्र ही सर्वमान्य समझे गए।

इस अंक से आगम साहित्य पर व्यापक दृष्टि डालने वाले एक विस्तृत आलेख की यह पहली कड़ी जैन भारती के सुधी पाठकों के लिए—

जहां तक आप्त-पुरुष की वाणी का संबंध है, परंपरा ने तीर्थंकर, गणधर, चतुर्दशपूर्वधारी, दशपूर्वधारी तथा प्रत्येक-बुद्ध की वाणी को आगम माना है।[6] नियमसार के अनुसार आगम के वचन पूर्वापर दोषरहित होते हैं।[7] स्याद्वादमंजरी के अनुसार आप्त वे हैं जिनके राग-द्वेष तथा मोह का ऐकांतिक एवं आत्यंतिक क्षय हो चुका है।[8]

जैन परंपरा वर्तमान में जिन्हें 'आगम' कहती है, प्राचीन काल में उन्हें श्रुत या सम्यक् श्रुत कहा जाता था।[9] इसी आधार पर 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ।[10] 'आगम-केवली' या 'सूत्र-केवली' ऐसा प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायवाची शब्द के रूप में आगम शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिन-वचन को श्रुत के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार किया है।[11] वस्तुतः यहां श्रुत शब्द अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

जैन आगमों का उद्भव

जिनभद्र गणि के अनुसार तप, नियम एवं ज्ञान के रूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर तीर्थंकर भव्य जीवों को संबोध प्रदान करने

के लिए ज्ञानवृष्टि करते हैं। उस ज्ञानवृष्टि को बीज आदि बुद्धि से संपन्न गणधर ग्रहण करके उन विभिन्न प्रकार के ज्ञानकुसुमों से माला की रचना करते हैं, जिससे तीर्थंकर के वचनों को श्रोता सुखपूर्वक ग्रहण कर सकें।[12] तीर्थंकर प्रज्ञा-संपन्न गणधरों की प्रज्ञा की अपेक्षा से संक्षेप में बोलते हैं, सर्वसाधारण-भोग्य भाषा में नहीं बोलते हैं।[13] तीर्थंकर उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य-रूप तीन मातृकापद का संभाषण करते हैं, द्वादशांग को नहीं कहते हैं।[14] गणधर उस मातृकापद से द्वादशांगी की रचना करते हैं। अर्थ के कर्ता तीर्थंकर एवं सूत्र के कर्ता गणधर होते हैं।[15] इसका तात्पर्य हुआ अर्थागम के कर्ता तीर्थंकर एवं सूत्रागम के कर्ता गणधर हैं। अर्थागम के उपदेष्टा होने से तीर्थंकर आगमों के आदिस्रोत हैं, उनके द्वारा प्रवाहित ज्ञान-गंगा गणधरों के माध्यम से आचार्य परंपरा के द्वारा प्रवर्तित होती हुई हमारे पास पहुंची है।[16]

जैन परंपरा के अनुसार सभी काल में होने वाले तीर्थंकर द्वादशांगी का उपदेश देते हैं अतः प्रवाहरूप से द्वादशांगी अनादि है। कोई भी ऐसा समय नहीं था जिस समय द्वादशांगी नहीं थी।[17] यह जैन परंपरा की मान्यता है। जैन दर्शन के अनुसार शब्द अनित्य है। द्वादशांगी शब्द-निबद्ध है, अतः द्वादशांगी नित्य कैसे हो सकती है? कोई भी भाषा नित्य नहीं होती, अतः भाषा में लिखा हुआ कोई भी ग्रंथ नित्य नहीं हो सकता। द्वादशांगी नित्य है, इसका तात्पर्य है कि द्वादशांगी में प्रतिपादित तत्त्व नित्य है। उसका भाषात्मक स्वरूप नित्य नहीं है। यथा—पंचास्तिकाय नित्य है। आत्म-तत्त्व नित्य है। उसके लिए आत्मा, चैतन्य, चेतना आदि प्रयुक्त होने वाले शब्द नित्य नहीं हैं।[18]

वर्तमान में भगवान महावीर का शासन चल रहा है। उनके ग्यारह गणधर थे। इंद्रभूति गौतम ने तीन निषद्या में चौदह पूर्वों को ग्रहण कर लिया था।[19] शेष गणधरों की निषद्या अनियत थी।[20] आवश्कचूर्णि में यह भी उल्लेख है कि पंद्रह निषद्या में गणधरों ने द्वादशांगी का ग्रहण किया था। एक निषद्या से ग्यारह अंग एवं चौदह निषद्या से चौदह पूर्वों का प्रणयन किया[21], किंतु किसी गणधर-विशेष का नाम उल्लिखित नहीं है। गणधर गौतम ने तीन निषद्या में चौदह पूर्वों का ग्रहण किया था।[22] किंतु ग्यारह अंगों के लिए उन्होंने भगवान से प्रश्न पूछे थे या नहीं? अथवा उन तीन निषद्या के आधार पर ही संपूर्ण द्वादशांगी का निर्माण कर लिया था? यह वर्णन प्राप्त नहीं है।

आगम वाचना

भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रुत को गणधरों ने आगम रूप में गुंफित किया। काल के प्रवाह में प्राकृतिक आपदाओं के कारण जैन परंपरा में श्रुत की धारा अविच्छिन्न नहीं रह सकी। वह अव्यवस्थित हो गई। भगवान महावीर के उपदेशों को व्यवस्थित करने के लिए जैनाचार्यों की संगीतियां हुईं। उस आगम-व्यवस्था की प्रक्रिया को वाचना कहा गया है। वीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष के मध्य तक आगम के संकलन की पांच प्रमुख वाचनाएं हुईं।

प्रथम वाचना पाटलीपुत्र में

भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग 160 वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस समय श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक श्रुतधर मुनि काल-कवलित हो गए। अन्यान्य दुविधाओं के कारण सूत्र परावर्तन नहीं हो सका, अतः आगम ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। आखिरकार दुर्भिक्ष समाप्त हुआ और उस काल में विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्र हुए। ग्यारह अंग एकत्र किए। भद्रबाहु स्वामी के अतिरिक्त सभी को बारहवां अंग विस्मृत हो चुका था। आचार्य भद्रबाहु उस समय महाप्राण ध्यान की साधना के लिए नेपाल गए हुए थे। संघ के विशेष निवेदन पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। अनेक साधु उस वाचना को लेने गए थे, किंतु उनमें से एकमात्र स्थूलभद्र ही उस ज्ञान को ग्रहण करने में सक्षम हुए। मुनि स्थूलभद्र दस पूर्वों का अध्ययन समाप्त कर चुके थे। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चल रही थी। मुनि स्थूलभद्र के द्वारा प्रमाद हुआ। बहनों के आगमन पर अपनी श्रुत-ऋद्धि को दिखाने के लिए स्वयं ने सिंह का रूप धारण कर लिया। आचार्य भद्रबाहु को जब यह घटना ज्ञात हुई तब उन्होंने मुनि स्थूलभद्र को वाचना देना बंद कर दिया। मुनि स्थूलभद्र ने बहुत अनुनय-विनय की तब अंतिम चार पूर्वों की वाचना तो दी, किंतु उनका अर्थ नहीं बताया। अर्थ की दृष्टि से अंतिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी ही थे। आचार्य स्थूलभद्र सूत्रतः चतुर्दशपूर्वी एवं अर्थतः दशपूर्वी ही थे।[23] पूर्वों के विच्छेद का क्रम भद्रबाहु स्वामी के साथ ही प्रारंभ हो गया, जो क्रमशः लुप्त होते-होते सर्वथा विलुप्त हो गया।

प्रथम वाचना के द्वारा श्रमण संघ को चार पूर्वन्यून द्वादशांगी प्राप्त हुई। यद्यपि स्थूलभद्र सूत्रतः चतुर्दशपूर्वी थे, किंतु उन्हें चार पूर्व की वाचना दूसरों को देने का अधिकार नहीं था।[24] श्वेतांबर परंपरा के अनुसार वीर निर्वाण के 170 वर्ष बाद भद्रबाहु स्वामी के महाप्रयाण के साथ ही श्रुतकेवली का लोप हो गया। दिगंबरों ने 162 वर्ष बाद श्रुतकेवली का लोप माना है।

श्वेतांबर मत के अनुसार प्रथम वाचना के समय में भी भगवान महावीर की संपूर्ण ज्ञानराशि सुरक्षित नहीं रह सकी। उसके ह्रास का क्रम उसी समय से प्रारंभ हो गया। प्रथम वाचना आचार्य स्थूलभद्र की अध्यक्षता में हुई।

द्वितीय वाचना

आगम-संकलन का दूसरा प्रयास 'चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल' ने किया। उनके सुप्रसिद्ध हाथी गुंफा अभिलेख से यह जानकारी मिली है कि ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य में उड़ीसा के कुमारीपर्वत पर उन्होंने जैन श्रमणों को बुलाया और मौर्यकाल में उच्छिन्न हुए अंगों को उपस्थित किया।[25]

तृतीय वाचना मथुरा में

आगम-संकलन का तीसरा प्रयत्न वीर निर्वाण 827 और 840 के मध्यकाल में हुआ। नंदीसूत्र की चूर्णि में उल्लेख है कि द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गया।[26] उस दुर्भिक्ष में भिक्षा मिलनी अत्यंत दुष्कर हो गई। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। अनेक बहुश्रुत और आगमधर मुनि दिवंगत हो गए। उस समय श्रुत का अतिशय नाश हुआ। अंग-उपांग का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। उनके अर्थ का भी ह्रास हुआ। बारह वर्ष के इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण-संघ स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्र हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितनी-जितनी श्रुतराशि स्मृति में थी, उसका संकलन किया गया। इस वाचना में कालिक सूत्र एवं पूर्वगत के कुछ अंशों का संकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे 'माथुरी वाचना' कहा गया। युगप्रधान आचार्य स्कंदिल ने उस संकलित श्रुत के अर्थ की वाचना दी, अतः वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को 'स्कंदिली वाचना' भी कहा गया है।

इस संदर्भ में एक अभिमत यह भी है कि दुर्भिक्ष के कारण श्रुत नष्ट तो नहीं हुआ था, सारा श्रुत उस समय विद्यमान था, किंतु आचार्य स्कंदिल के अतिरिक्त अन्य सारे अनुयोगधर मुनि कालकवलित हो गए थे। मात्र स्कंदिल ही उस समय अनुयोगधर थे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर आचार्य स्कंदिल ने मथुरा में पुनः अनुयोग प्रवर्तन किया, इसलिए इसे 'माथुरी वाचना' भी कहा गया और वह सारा अनुयोग स्कंदिल संबंधी माना गया।[27] विद्वानों का अभिमत है कि इस वाचना के फलस्वरूप आगम लिखे भी गए।[28]

चतुर्थ वाचना

जब स्कंदिलाचार्य ने मथुरा में वाचना की, उसी काल में वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्र हुआ और आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। 'वाचक नागार्जुन और एकत्र संघ को जो-जो आगम और उनके अनुयोगों के उपरांत प्रकरण ग्रंथ याद थे, वे लिख लिए गए और विस्मृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके उसके अनुसार वाचना दी गई।'[29] इस वाचना के प्रमुख नागार्जुन थे, अतः इस वाचना को 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहते हैं।

पंचम वाचना

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी (980 या 993) में पुनः श्रमण संघ एकत्र हुआ और आगम-संकलन का सुव्यस्थित रूप इस वाचना के फलस्वरूप प्राप्त हुआ। मथुरा एवं वल्लभी में संपादित वाचनाओं के आधार पर यह वाचना हुई।

'वल्लभी नगर में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए सिद्धांतों के उपरांत जो-जो ग्रंथ-प्रकरण मौजूद थे, उन सबको लिखाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया। इस श्रमण-समवसरण में दोनों वाचनाओं के सिद्धांतों का परस्पर समन्वय किया गया और जहां हो सका, भेदभाव मिटाकर उन्हें एकरूप कर दिया। जो महत्त्वपूर्ण भेद थे, उन्हें पाठांतर के रूप में टीका-चूर्णियों में संगृहीत किया। कितने ही प्रकीर्णक ग्रंथ, जो केवल एक ही वाचना में थे, वैसे-के-वैसे प्रमाण माने गए।'[30]

इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का वक्तव्य है कि 'स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, परंपरा की व्यवच्छित्ति आदि अनेक कारणों से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था, इस वाचना में एकत्र मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित, जो-कुछ भी स्मृति थी उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना करके उसे पुस्तकारूढ़ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कंठगत आगमों को एकत्र कर उन्हें एकरूपता देने का प्रयास हुआ। जहां अत्यंत मतभेद रहा वहां माथुरी को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठांतर में स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या ग्रंथों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति'—ऐसा उल्लेख हुआ है।'[31]

विद्वानों का मानना है कि इस वाचना से सारे आगम व्यवस्थित रूप से संकलित हो गए तथा साथ ही भगवान महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश भी यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहां-जहां समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें संक्षिप्त कर एक-दूसरे का पूर्ति-संकेत एक-दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ है—यह विमर्शनीय है। यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की संकलना हैं तो अनेक स्थानों में विसंवाद क्यों? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने विसंवाद के दो कारण माने हैं—

1. जो श्रमण उस समय जीवित थे और जिन्हें जो-जो आगम कंठस्थ थे, उन्हीं के अनुसार आगम संकलित किए गए। यह जानते हुए भी कि एक ही बात दो भिन्न आगमों में भिन्न प्रकार से कही गई है, देवर्द्धिगणी ने उनमें हस्तक्षेप करना अपना अधिकार नहीं समझा।

2. नौवीं शताब्दी में संपन्न हुई माथुरी तथा वल्लभी वाचना की परंपरा के अवशिष्ट श्रमणों को जैसा और जितना स्मृति में था, उसे संकलित किया। वे श्रमण बीच-बीच में आलापक भूल भी गए हों—यह भी विसंवादों का मुख्य कारण हो सकता है।[32]

ज्योतिष्करंड की वृत्ति में कहा गया है कि वर्तमान में उपलब्ध अनुयोगद्वारसूत्र माथुरी वाचना का है और ज्योतिष्करंड के कर्ता वल्लभी वाचना की परंपरा के आचार्य थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करंड के संख्या-स्थानों में अंतर प्रतीत होता है।[33]

इस प्रकार आगमों की सुरक्षा के लिए बौद्ध धर्म की तरह ही जैन धर्म में अनेक बार अनेक प्रकार के प्रयत्न होते रहे हैं। वर्तमान में भी आगमों के शोध/अनुसंधान के विभिन्न उपक्रम हो रहे हैं। अधिकांश विद्वानों ने चार वाचनाओं का उल्लेख किया है, किंतु आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने नंदीसूत्र की भूमिका में पांच वाचनाओं का उल्लेख किया है, अतः हमने भी उन्हीं का अनुसरण किया है।

आगम-विच्छेद-क्रम

भगवान महावीर की उपस्थिति में उनके अनेक शिष्य केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी एवं संपूर्ण द्वादशांगी के धारक थे। पूर्वों का ज्ञान द्वादशांगी के अंतर्गत ही था। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रुत की इस धारा में क्रमशः अवरोध उत्पन्न होने लगा।

श्वेतांबर परंपरा के अनुसार आगमों का विच्छेद एवं ह्रास हुआ, किंतु आगम साहित्य सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ है, उसका कुछ अंश वर्तमान में भी उपलब्ध है। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार आगम का विच्छेद एवं ह्रास-क्रम इस प्रकार है—

केवली—1. सुधर्मा और 2. जंबू।

चौदहपूर्वी—1. प्रभव 2. शय्यंभव 3. यशोभद्र 4. संभूतविजय 5. भद्रबाहु 6. स्थूलभद्र। ये सूत्रतः चौदहपूर्वी थे, अर्थतः दशपूर्वी थे।

भद्रबाहु के पश्चात् चौदह पूर्वों का अर्थतः जो ज्ञान था वह लुप्त हो गया तथा स्थूलभद्र के पश्चात् अर्थतः एवं सूत्रतः दोनों ही रूपों में चौदह पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। जैन परंपरा में महागिरि, सुहस्ति से लेकर वज्रस्वामी तक दस आचार्य दशपूर्वी हुए हैं। इनके बाद दशपूर्वों का भी अखंड ज्ञान नहीं रहा।[34]

तोसलिपुत्र आचार्य के शिष्य श्री आर्यरक्षित नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व के चौबीस यविक के ज्ञाता थे।[35] आर्यरक्षित के वंशज आर्यनंदिल भी साढ़े नौ पूर्वी थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।[36] आर्यरक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वी थे।

दशपूर्वी या 9-10 पूर्वी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का एकपूर्वी के रूप में उल्लेख हुआ है। बीच के पूर्वों के धारक कितने और कौन थे—इस बारे में इतिहास मौन है।

आर्यरक्षित, नंदिलक्ष्मण, नागहस्ति, रेवतिनक्षत्र, सिंहसूरि—ये सारे नौ और उससे अल्प-अल्प पूर्व के ज्ञान वाले थे। स्कंदिलाचार्य, श्री हिमवंत क्षमाश्रमण, नागार्जुनसूरि—ये सभी समकालीन पूर्ववित् थे। श्री गोविंदवाचक, संयमविष्णु, भूतदिन्न, लोहित्यसूरि, दुष्यगणि और देववाचक—ये ग्यारह अंग तथा एक पूर्व से अधिक के ज्ञाता थे।[37]

यह भी माना जाता है कि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती आचार्यों में पूर्व-ज्ञान का कुछ अंश अवश्य था। इसकी पुष्टि स्थान-स्थान पर उल्लिखित पूर्वों की पंक्तियों तथा विषय-निरूपण से होती है।[38]

वज्रस्वामी के बाद तथा शीलांकसूरि से पूर्व आचारांग के 'महापरिज्ञा' अध्ययन का ह्रास हुआ।

स्थानांग में वर्णित प्रश्न-व्याकरण का स्वरूप उपलब्ध प्रश्न-व्याकरण से अत्यंत भिन्न है। उस मूल स्वरूप का कब, कैसे ह्रास हुआ—यह अज्ञात है।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा की अनेक उपाख्यायिकाओं का सर्वथा लोप हुआ है।

श्वेतांबर परंपरा में ग्यारह अंग आज भी उपलब्ध हैं। बारहवां दृष्टिवाद अंग इस परंपरा में सर्वथा लुप्त माना जाता है। भद्रबाहु से लेकर देवर्द्धिगणी तक क्रमशः पूर्वों का लोप होते-होते वे सर्वथा लुप्त हो गए। भगवान महावीर के निर्वाण के 980 वर्षों के बाद वल्लभी वाचना में दृष्टिवाद को लुप्त मान लिया गया।

दिगंबर परंपरा के अनुसार आज कोई भी आगम उपलब्ध नहीं है। वीर निर्वाण से 683 वर्ष के पश्चात् अंग-साहित्य लुप्त हो गया। दिगंबर परंपरा का अभिमत है कि अंगगत अर्धमागधी भाषा का मूल साहित्य प्रायः सर्वथा लुप्त हो गया। दृष्टिवाद अंग के पूर्वगत ग्रंथ का कुछ अंश ईस्वी की प्रारंभिक शताब्दी में श्रीधरसेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा, यदि वह शेषांश भी लिपिबद्ध नहीं किया जाएगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जाएगा, अतः उन्होंने श्री पुष्पदंत और श्री भूतबलि सदृश मेधावी शिष्यों को बुलाकर गिरनार की चंद्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्वसंघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुतपंचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण बन गया है।[39]

श्वेतांबर परंपरा के अनुसार ग्यारह अंग आंशिक रूप में उपलब्ध है, बारहवां अंग दृष्टिवाद सर्वथा लुप्त हो गया है। दिगंबर परंपरा के अनुसार ग्यारह अंग सर्वथा लुप्त हो गए, बारहवें दृष्टिवाद का कुछ अंश बचा है, दोनों परंपराओं का आगम-उपलब्धि की दृष्टि से समन्वय करके देखें तो पाते हैं कि बारह ही अंगों का कुछ-न-कुछ भाग वर्तमान में भी उपलब्ध है। यह जैन परंपरा के लिए गौरव की बात है।

आगमों का वर्गीकरण

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम है। समवायांग में आगम के दो रूप प्राप्त होते हैं—

1. द्वादशांग गणिपिटक[40] और 2. चतुर्दश पूर्व।[41] नंदी में श्रुत-ज्ञान के दो विभाग प्राप्त होते हैं—1. अंग-प्रविष्ट और 2. अंग-बाह्य।[42]

समवायांग और अनुयोगद्वार में अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य का विभाग नहीं है। यह विभाग सर्वप्रथम नंदी में मिलता है। नंदी की रचना से पूर्व अनेक अंग-बाह्य ग्रंथ रचे जा चुके थे और वे चतुर्दशपूर्वी या दशपूर्वी स्थविरों द्वारा रचे गए थे। इसलिए उन्हें आगम की कोटि में रखा गया। उसके फलस्वरूप आगम के दो विभाग किए—1. अंग-प्रविष्ट और 2. अंग-बाह्य। आगमों का अंग-प्रविष्ट एवं अंग-बाह्य विभाग अनुयोगद्वार, जो वीर निर्वाण छठी शताब्दी की रचना है, तक नहीं हुआ था। यह विभाग सर्वप्रथम नंदी में हुआ, जो वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी की रचना है।

नंदी की रचना तक आगम के तीन वर्गीकरण हो जाते हैं—1. पूर्व 2. अंग-प्रविष्ट और 3. अंग-बाह्य। वर्तमान में अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य ग्रंथ तो उपलब्ध है, किंतु 'पूर्व' साहित्य विलुप्त हो गया है।

नंदी के उत्तरकाल में जैन आगम को चार भागों में विभक्त किया गया—1. अंग 2. उपांग 3. मूल और 4. छेद। आगमों का यह वर्गीकरण अर्वाचीन है। विक्रम की 13-14वीं शताब्दी से पूर्व इस वर्गीकरण का उल्लेख प्राप्त नहीं है। आगमों का सबसे प्राचीन विभाग अंग और पूर्व है। अंग, उपांग, मूल और छेद—ये विभाग अर्वाचीन है।

पूर्व साहित्य

जैन परंपरा के अनुसार 'पूर्व' श्रुतज्ञान के अक्षय कोश हैं। इनके अर्थ और रचना के विषय में सब एकमत नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार 'पूर्व' द्वादशांगी से पहले रचे गए थे, इसलिए इनका नाम 'पूर्व' है।[43]

वर्तमान में द्वादशांगी का जो स्वरूप प्राप्त है, उसमें 'पूर्व' समाहित है। बारहवां अंग दृष्टिवाद है। उसका एक विभाग है—पूर्वगत। चौदह पूर्व इसी 'पूर्वगत' के अंतर्गत किए गए हैं। भगवान महावीर ने प्रारंभ में पूर्वगत का अर्थ प्रतिपादित किया था और गौतम आदि गणधरों ने भी प्रारंभ में पूर्वगत-श्रुत की रचना की, बाद में आचारांग आदि का प्रणयन किया—यह भी एक मान्यता है।[44] ऐसा कहा जाता है कि महावीर ने जो कहा वह पूर्व में निबद्ध किया गया एवं उसके आधार पर गणधरों ने ग्यारह अंगों का उपदेश दिया।[45] पूर्व का यदि 'पूर्ववर्ती ग्रंथ'—यह अर्थ लिया जाए तब तो यही कहा जाएगा कि अंग पूर्वों के आधार पर निर्मित हुए हैं। आवश्यकचूर्णि में भी यह उल्लेख प्राप्त होता है कि गौतम स्वामी ने तीन निषद्या के द्वारा चौदह पूर्वों की रचना की।[46] द्वादशांगी की रचना का उल्लेख नहीं किया है, इससे भी संभव लगता है कि पहले पूर्वों का निर्माण हुआ और बाद में उनके आधार पर अंगों की रचना की गई हो।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने बताया कि 'दृष्टिवाद' में समस्त शब्द-ज्ञान का अवतार हो जाता है, फिर अल्पमेधा वाले पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए ग्यारह अंगों की रचना की गई।[47] ग्यारह अंग वे ही मुनि पढ़ते थे जिनकी प्रतिभा प्रखर नहीं होती थी। प्रतिभासंपन्न चौदह पूर्वों का अध्ययन करते थे। आगम-विच्छेद के क्रम से भी यही फलित होता है कि ग्यारह अंग दृष्टिवाद या पूर्वों से सरल या भिन्न क्रम में रहे हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस चर्चा का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा—

जब तक आचार आदि अंगों की रचना नहीं हुई थी, तब तक महावीर की श्रुत-राशि 'चौदह-पूर्व' या 'दृष्टिवाद' के नाम से अभिहित होती थी और जब आचार आदि ग्यारह अंगों की रचना हो गई, तब दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में स्थापित किया गया।...ग्यारह अंग पूर्वों से उद्धृत या संकलित हैं। इसलिए जो चतुर्दशपूर्वी होता है, वह स्वाभाविक रूप से द्वादशांगवित् होता है। बारहवें अंग में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं, इसलिए जो द्वादशांगवित् होता है, वह स्वभावतः ही चतुर्दशपूर्वी होता है। अतः हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आगम के प्राचीन वर्गीकरण दो ही हैं—1. चौदह पूर्व और 2. ग्यारह अंग। द्वादशांगी का स्वतंत्र स्थान नहीं है। यह पूर्वों और अंगों का संयुक्त नाम है।[48]

अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य

भगवान महावीर के अस्तित्वकाल में गौतम आदि गणधरों ने पूर्वों और अंगों की रचना की थी, यह तथ्य सुस्पष्ट है। गणधरों के अतिरिक्त महावीर के अन्य शिष्यों ने ग्रंथों का निर्माण किया या नहीं—यह प्रश्न उपस्थित है। भगवान महावीर के चौदह हजार साधु शिष्य थे।[49] उनमें से अनेक केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, वादी आदि विशिष्ट ज्ञानसंपन्न साधु थे। उन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा हो—यह संभव नहीं लगता। नंदी में उल्लेख प्राप्त है कि भगवान महावीर के शिष्यों ने चौदह हजार प्रकीर्णक बनाए थे।[50] ये पूर्वों और अंगों से अतिरिक्त थे। भगवान महावीर के काल में आगमों का अंग-प्रविष्ट एवं अंग-बाह्य के रूप में वर्गीकरण हुआ अथवा नहीं, इसे ज्ञात करने के लिए कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। नंदीसूत्र में आगमों का यह विभाग हो गया है। आगमों का अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य में भेद करने का मुख्य हेतु वक्ता का भेद है।[51] भगवान महावीर के मौलिक उपदेश को गणधरकृत संग्रह अंग एवं अन्य को अंग-बाह्य कहा गया है। आगमों के ये दो भेद उनके वक्ता की अपेक्षा से ही हुए हैं। अपने स्वभाव के अनुसार प्रवचन की प्रतिष्ठा करना ही जिसका फल है, ऐसे परम शुभ तीर्थंकर नामकर्म के उदय के सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर ने जो-कुछ कहा तथा उन वचनों को अतिशय-संपन्न, वचन-ऋद्धि एवं बुद्धि-ऋद्धि से संपन्न तीर्थंकरों के गणधर शिष्यों ने धारण करके जिन ग्रंथों की रचना की, वे अंग-प्रविष्ट कहलाए तथा जिन आचार्यों का वचन-सामर्थ्य एवं मतिज्ञान परम प्रकृष्ट था, आगम श्रुतज्ञान अत्यंत विशुद्ध था, उन गणधरों के पश्चात्वर्ती आचार्यों के द्वारा काल, संहनन, आयु आदि दोषों से शक्ति अल्प हो गई है जिन शिष्यों की, उन पर अनुग्रह करने के लिए जिन आगमों की रचना की उनको अंग-बाह्य कहा गया है।[52]

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के भेद के निरूपण में तीन हेतु प्रस्तुत किए हैं—

अंग-प्रविष्ट आगम वह है—1. जो गणधरकृत होता है। 2. जो गणधर द्वारा प्रश्न किए जाने पर तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होता है। 3. जो ध्रुव—शाश्वत सत्यों से संबंधित होता है, सुदीर्घकालीन होता है।

इसके विपरीत—1. जो स्थविरकृत होता है, 2. जो प्रश्न पूछे बिना तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होता है, 3. जो चल होता है—तात्कालिक या सामयिक होता है, उस श्रुत का नाम अंग-बाह्य है।[53]

आचार्य अकलंक ने आरातीय आचार्यकृत आगम, जो अंग आगमों में प्रतिपादित अर्थ से प्रतिबिंबित होता है—उसे अंग-बाह्य कहा है।[54]

आगम जैन दर्शन के मूल आधार हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचारांग

जैनागम बारह अंगों में विभक्त हैं। द्वादशांगी में आचारांग का पहला स्थान है।[55] आचारांग के संबंध में दो विचारधाराएं चर्चित हैं। एक विचारधारा के अनुसार स्थापना-क्रम की दृष्टि से यह पहला अंग है, किंतु रचना-क्रम की दृष्टि से यह बारहवां अंग है। दूसरी मान्यता के अनुसार रचना एवं स्थापना—दोनों ही दृष्टियों से आचारांग पहला अंग है। आचार्य मलयगिरि[56] तथा अभयदेवसूरि[57] दोनों ने ही उक्त दोनों विचारधाराओं का उल्लेख किया है। ये दोनों प्रकार की विचारधाराएं उनसे पहले ही प्रचलित थीं। निर्युक्तिकार ने 'आचार' को प्रथम अंग माना है। उनके अनुसार तीर्थंकर सर्वप्रथम आचार का और फिर क्रमशः शेष अंगों का प्रतिपादन करते हैं।[58]

गणधर भी आचारादि क्रम से ही अंगों की रचना करते हैं।[59] निर्युक्तिकार ने लिखा है—'आचारांग में मोक्ष के उपाय 'आचार' का प्रतिपादन किया गया है और यही प्रवचन का सार है। इसलिए द्वादशांगी में आचारांग का प्रथम स्थान है।'[60] आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आचारांग को स्थापना की दृष्टि से प्रथम अंग माना है। उनका अभिमत है—अंग पूर्वों से निर्यूढ़ हैं। इस अभिमत के आलोक में देखा जाए तो यही धारा संगत लगती है कि आचारांग स्थापना की दृष्टि से पहला अंग है, किंतु रचना-क्रम की दृष्टि से नहीं।[61] आगमों के व्याख्या साहित्य की दृष्टि से निर्युक्ति का प्रथम स्थान है। निर्युक्ति में उल्लिखित अवधारणाओं की प्राचीनता असंदिग्ध है। अन्य टीकाओं में भी दोनों मान्यताओं का उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि आचारांग रचना एवं स्थापना—दोनों ही दृष्टियों से प्रथम अंग है। आधुनिक विद्वान अंग और पूर्व को एक-दूसरे पर आधारित नहीं मानते किंतु उनके अनुसार वे एक-दूसरे के समानांतर चलते हैं।[62] इस मंतव्य से अंगों का पूर्वों से निर्यूहण हुआ है—यह मान्यता विमर्शनीय हो जाती है।

आचारांग के श्रुतस्कंध

समवायांग में आचारांग के दो श्रुतस्कंध बतलाए गए हैं।[63] इससे यह प्रमाणित होता है कि समवायांग में प्राप्त द्वादशांगी का विवरण भी 'आयारचूला' की रचना का उत्तरवर्ती है। प्रारंभ में आचारांग के दो श्रुतस्कंध नहीं थे। आचार्य भद्रबाहु ने आयारचूला की रचना की, उसके पश्चात् दो स्कंधों की व्यवस्था की गई। मूलभूत प्रथम अंग का नाम आचारांग अथवा ब्रह्मचर्याध्ययन है। समवायांग में इसके अध्ययनों को 'नव ब्रह्मचर्य' कहा गया है।[64] आचारांग निर्युक्ति में इसे 'नव ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक' कहा गया।[65] द्वितीय श्रुतस्कंध के दो नाम हैं—आचाराग्र और आचार-चूला। प्रथम श्रुतस्कंध ही प्राचीन है तथा वही आचारांग नाम का प्रथम अंग है।

आचारांग के अध्ययन

आचारांग के नौ अध्ययन हैं। समवायांग[66] और आचारांग निर्युक्ति[67] में इन अध्ययनों के जो नाम प्राप्त होते हैं, उनमें थोड़ा भेद है—

समवायांग	आचारांग निर्युक्ति
सत्थपरिण्णा	सत्थपरिण्णा
लोगविजय	लोगविजय
सीओसणिज्ज	सीओसणिज्ज
सम्मत्त	सम्मत्त
आबंती	लोगसार
धुत	धुय
विमोहायण	महापरिण्णा
उवहाणसुय	विमोक्ख
महापरिण्णा	उवहाणसुय

इनमें नामभेद और क्रमभेद दोनों हैं। पांचवें अध्ययन का मूल नाम 'लोगसार' ही है। आवंती नाम आदि-पद के कारण हुआ है। समवायांग में आचारांग के 85 उद्देशक काल बतलाए गए हैं।[68] यह दोनों श्रुतस्कंधों की संयुक्त संख्या है। उद्देशक अध्ययन का अवांतर विभाग होता है।

आचारांग का आकार

आचारांग निर्युक्ति के अनुसार आचारांग की पद-संख्या अट्ठारह हजार है।[69] वर्तमान में उपलब्ध आचारांग में अट्ठारह हजार पद प्राप्त नहीं हैं। परंपरा से ऐसा माना जाता है कि रचनाकाल में आचारांग का पद-परिमाण इतना था, किंतु काल-क्रम से उसके ग्रंथ भाग का विच्छेद हो गया, इसलिए वर्तमान में पद-परिमाण भी कम हो गया। दिगंबर परंपरा के अनुसार वीर-निर्वाण 683 के पश्चात् आचारांगधर का विच्छेद हो गया। फलतः आचारांग का विच्छेद हो गया। इस परंपरा में आचारांग का विच्छेद मान लेने पर भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि उत्तरवर्ती आचार्य सभी अंगों तथा पूर्वों के एक देश के धारक हुए हैं।[70] श्वेतांबर परंपरा में भी विष्णु मुनि के देहावसान के साथ आचारांग का विच्छेद माना गया है।[71] इन परंपराओं से इतना सारांश प्राप्त किया जा सकता है कि आचारांग निर्माणकाल में जितना था, उतना आज नहीं है तथा वह सर्वथा विच्छिन्न भी नहीं है।

विषय-वस्तु

समवायांग एवं नंदी में आचारांग की विषय-वस्तु का वर्णन प्राप्त है। उसके अनुसार प्रस्तुत सूत्र आचार, गोचर, विनय, विनय-फल, स्थान, गमन, चंक्रमण, भोजन आदि की मात्रा, स्वाध्याय आदि में योग-नियुंजन, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम-उत्थान, एषणा आदि की विशुद्धि, शुद्धाशुद्ध ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि का प्रतिपादक है।[72] निर्युक्तिकार ने नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों का विषय इस प्रकार बतलाया है—

1. सत्थपरिण्णा : जीव संयम
2. लोगविजय : बंध और मुक्ति का प्रबोध
3. सीओसणिज्ज : सुख-दुख-तितिक्षा

4. सम्मत्त	:	सम्यक् दृष्टिकोण
5. लोकसार	:	असार का त्याग और लोक में सारभूत रत्नत्रयी की आराधना
6. धुय	:	अनासक्ति
7. महापरिण्णा	:	मोह से उत्पन्न परीषहों और उपसर्गों का सम्यक् सहन
8. विमोक्ख	:	निर्याण की सम्यक् साधना
9. उवहाणसुय	:	भगवान महावीर द्वारा आचरित आचार का प्रतिपादन।[73]

विलुप्त महापरिज्ञाध्ययन

आचारांग का महापरिज्ञा अध्ययन विच्छिन्न हो चुका है। उस अध्ययन का विच्छेद वज्रस्वामी के पश्चात् तथा शीलांकसूरि से पूर्व हुआ है। निर्युक्तिकार ने महापरिज्ञा अध्ययन का उल्लेख किया है तथा उसकी निर्युक्ति भी की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अध्ययन उनके सामने था। चूर्णिकार के सामने भी महापरिज्ञा अध्ययन रहा है। उन्होंने शीलांकसूरि की तरह इसके विच्छेद होने का उल्लेख नहीं किया है किंतु इस अध्ययन के असमनुज्ञात होने का उल्लेख किया है।[74] महापरिज्ञा अध्ययन में अनेक मंत्रों और विद्याओं का वर्णन था। उसे पढ़ाने का परिणाम अच्छा नहीं आया, अतः तात्कालिक आचार्यों ने उसे असमनुज्ञात घोषित कर दिया—उसका पढ़ना, पढ़ाना निषिद्ध कर दिया। इस अध्ययन का पढ़ना, पढ़ाना जब निषिद्ध हो गया तब इसका विच्छेद हो गया हो, यह संभावित लगता है।

आचारांग में प्रतिपादित दार्शनिक तथ्य

तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से आचारांग महत्त्वपूर्ण आगम है। जैन दर्शन में तत्त्व-दर्शन का मूल आधार आत्मा है। आचारांग का प्रारंभ इसी सत्य की व्याख्या से हुआ है।[75] आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद दार्शनिक चिंतन के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। इनका उल्लेख भी प्रस्तुत आगम में हुआ है।[76] आत्मकर्तृत्व का सिद्धांत दर्शन जगत् में बहुचर्चित रहा है। जैन दर्शन आत्मकर्तृत्व के सिद्धांत का परिपोषक है। आचारांग में आत्मकर्तृत्व का घोष पदे-पदे मुखर है। 'पुरिसा तुममेम तुमं मित्तं'[77] 'तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु'[78]—'पुरुष तू ही तेरा मित्र है, यह शल्य तूने ही किया है'—ये वाक्य आत्मा के कर्तृत्व के बोधक हैं। आचारांग में निर्वाण को 'अनन्य परम' कहा गया है। निर्वाण तथा निर्वाण के उपायभूत सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का भी प्रस्तुत आगम में स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है।

आत्माएं अनंत हैं। उन सबका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। वे किसी एक ईश्वर की अंशभूत नहीं हैं और किसी ब्रह्म की प्रपंचभूत भी नहीं हैं। सुख और दुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है।[79] आचारांग का यह घोष आत्मा की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता है।

'जिसे तू हननयोग्य मानता है, वह तू ही है।'[80] आचारांग का यह आत्माद्वैत अहिंसा के आचार की पराकाष्ठा है।

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ',[81]—जो एक को जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एक को जानता है। यह सूत्र अनेकांत का आदिस्रोत है; संग्रह एवं व्यवहार नय की सापेक्षता को अभिव्यंजित कर रहा है। साधना की दृष्टि से भी इस सूत्र का महत्त्व है। आचारांग पुनर्जन्म की स्वीकृति के साथ आत्म-अन्वेषण की प्रक्रिया में साधकों को संयोजित करता है।

जैन धर्म-दर्शन की षड्जीवनिकाय की अवधारणा सर्वथा मौलिक है, जिसका निर्देश प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा में हुआ है।

आचारांग में साधना के महत्त्वपूर्ण सूत्रों का प्रतिपादन तो हुआ ही है, किंतु इसका छठा धुताध्ययन साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'अवधूत' परंपरा के साथ इसका साम्य खोजा जा सकता है।

नवें अध्ययन में महावीर के जीवन-दर्शन का वास्तविक चित्रण हुआ है। कहीं भी महावीर के जीवन में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का उल्लेख नहीं हुआ है। आचारांग का यह वर्णन महावीर के यथार्थ जीवन पर आधारित है। महावीर का मानवी रूप ही इससे प्रस्तुत होता है।

आचारांग में श्रद्धा और स्वतंत्र दृष्टि का सुंदर संगम है। 'सद्धी आणाए मेहावी'[82] 'आणाए मामगं धम्मं'[83] जैसे श्रद्धा-सूत्रों का कथन है, वैसे ही साधक को स्वबुद्धि के प्रयोग का भी उपदेश दिया गया है। 'मइमं पास'[84]—यह आदेश दृष्टि की स्वतंत्रता को अवकाश देता है। केवल श्रद्धा और केवल स्वतंत्र दृष्टि—ये दोनों अतियां हैं। इनसे अच्छे परिणाम की उपलब्धि नहीं हो सकती। श्रद्धा और स्वतंत्र दृष्टि का समन्वय ही सत्य-संधान का समुचित मार्ग है। आचारांग हमें यह दृष्टि प्रदान करता है।

आचारांग का महत्त्व

आचारांग आचार का प्रतिपादक सूत्र है, इसलिए इसे सब अंगों का सार माना गया है। अंगों का सार आचार है।[85] आचारांग में मोक्ष का उपाय बताया गया है, इसलिए यह समूचे प्रवचन का सार है। आचारांग मुनि-जीवन का आधारभूत आगम है, इसलिए इसका अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता है। नौ ब्रह्मचर्य अध्ययनों का वाचन किए बिना आगे के आगमों का वाचन करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।[86] आचारांग पढ़ने के बाद ही धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग पढ़े जाते थे। नवदीक्षित मुनि की उपस्थापना आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन द्वारा की जाती थी। मुनि भिक्षा लाने योग्य भी आचारांग के अध्ययन से होता था।

आचारांग की प्रासंगिकता

आचारांग में सम-सामयिक समस्याओं के समाधान भी उपलब्ध हैं। पर्यावरण-प्रदूषण आज की गंभीर समस्या है। उसके समाधान के लिए अनेक वैज्ञानिक, अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थान संलग्न हैं। आचारांग में प्रदत्त षड्जीवनिकाय के संयम का सूत्र यदि आज व्यवहार के धरातल पर अवतरित हो जाए तो इस समस्या से मुक्ति पाई जा सकती है। ढाई हजार वर्ष पहले प्रदूषण की कोई समस्या नहीं थी, किंतु उस समय में अन्य संदर्भ में प्रदत्त सूत्र वार्तमानिक समस्या को समाहित करने में सक्षम हैं। हिंसा एवं आतंक की समस्या का समाधान आचारांग में आगत अहिंसा के उच्च सिद्धांत में सन्निहित है।

रचना शैली

सूत्रकृतांग चूर्णि में प्रथम आचारांग को गद्य की कोटि में रखा है, किंतु दशवैकालिक चूर्णि में ब्रह्मचर्याध्ययन (आचारांग) को चौर्ण-पद माना है। आचार्य हरिभद्र का भी यही अभिमत है।[87] आचारांग की रचना गद्य शैली की नहीं है, इसलिए दशवैकालिक चूर्णि का अभिमत संगत लगता है। चौर्ण-पद उसे कहते हैं जो अर्थ-बहुल, महार्थ, हेतु, निपात और उपसर्ग से गंभीर, बहुपाद, अव्यवच्छिन्न, गम और नय से विशुद्ध होता है।[88] चौर्ण की परिभाषा में आया हुआ बहुपाद शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिस रचना में कोई पाद नहीं होता वह गद्य और जिसमें गद्य भाग के साथ-साथ बहुत पाद होते हैं, वह चौर्ण है। आचारांग में सैकड़ों पाद हैं, इसलिए वह चौर्ण शैली की रचना है। आचारांग के 8वें अध्ययन के 7वें उद्देशक तक की रचना चौर्ण शैली में है और 8वां उद्देशक तथा 9वां अध्ययन पद्यात्मक है। आचारचूला के 15 अध्ययन मुख्यतया गद्यात्मक हैं, कहीं-कहीं पद्य या संग्रह गाथाएं प्राप्त हैं। 16वां अध्ययन पद्यात्मक है।

आचारांग में गद्यभाग के साथ-साथ विपुल मात्रा में पद्य भाग हैं—इस रहस्य के उद्घाटन का श्रेय डॉ. शुब्रिंग को है। उन्होंने स्व-संपादित आचारांग के पद्य भाग का पृथक अंकन किया है।

रचनाकार और रचनाकाल

परंपरा से यह जाना जाता है कि आचारांग की रचना गणधर सुधर्मा स्वामी ने तीर्थ-प्रवर्तन के समय में ही की। ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग उपलब्ध आगमों में सबसे प्राचीन है। इसकी रचना शैली अन्य आगमों से भिन्न है। विद्वानों ने आचारांग, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन को भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से प्राचीनतम माना है।[89] डॉ. हर्मन जेकोबी ने इसकी तुलना ब्राह्मण सूत्रों की शैली से की है।[90] आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध दूसरे श्रुतस्कंध की अपेक्षा निश्चित रूप से प्राचीन है। यह विंटरनित्ज आदि विद्वानों का मंतव्य है।[91]

आचारांग आचार-प्ररूपणा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें आचार की प्ररूपणा मुख्य होते हुए भी उसके परिपार्श्व में अनेक वैचारिक वीचियां तरंगित होती हुई परिलक्षित हैं। ❖

क्रमशः अगले अंक में जारी

संदर्भ ग्रंथ

1. (क) शब्दकल्पद्रुम (संपा. राजा राधाकांतदेव, वाराणसी, 1967) प्रथम भाग, पृ. 165
   (ख) वाचस्पत्यम् (संपा. श्री तारानाथ, वाराणसी, 1969) प्रथम भाग, पृ. 614
2. व्यवहारभाष्य (संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा, लाडनूं, 1996) गाथा 318
3. अपि च—अनुयोगद्वारटीका (ले. मलधारी हेमचंद्र, पाटण, 1339) पृ. 202, आ-समन्तात् गम्यते ज्ञायते जीवादयः पदार्था अनेनेति वा आगमः। आवश्यकचूर्णि (ले. जिनदासंगणिमहत्तर, रतलाम, 1928) पृ. 16, णज्जंति अत्था जेण सो आगमो
4. अनुयोगद्वारचूर्णि (ले. जिनदासगणिमहत्तर, रतलाम, 1928) पृष्ठ 16, अत्तस्स वा वयणं आगमो। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में आप्तवचन को द्रव्यश्रुत तथा अर्थज्ञान को भावश्रुत मानना चाहिए। द्रष्टव्य-भिक्षुन्यायकर्णिका (ले. आचार्य तुलसी, चूरू, 1970) 4/2, आप्तवचनम्—आगमः तत्तु उपचारात्। वस्तुवृत्त्या वर्णपदवाक्यात्मकं वचनं पौद्गलिकत्वाद् द्रव्यश्रुतं अर्थज्ञानात्मकस्य भावश्रुतस्य साधनं भवति।

5. प्रमाणनयतत्त्वालोक (ले. वादिदेवसूरि, उज्जैन, वि.सं. 1989) 4/1, आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः

6. (क) ओघनिर्युक्ति (Kapadia, H.R., A History of the canonical literature of the Jains, Surat, 1941, P. 14 पर उद्धृत) पृ. 3.र, अर्थतस्तीर्थंकरप्रणीतं सूत्रतो गणधरनिबद्धं चतुर्दशपूर्वधरोपनिबद्धं दशपूर्वधरोपनिबद्धं प्रत्येकबुद्धोपनिबद्धं च।

(ख) मूलाचार (ले. वट्टकेर, दिल्ली, 1992) गाथा 5/277
सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च॥

7. नियमसार (ले. आचार्य कुंदकुंद, जयपुर 1984) गाथा 8
तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवं तच्चत्था॥

8. स्याद्वादमंजरी (ले. आचार्य मल्लिषेण, अगास, 1979) पृ. 7, आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकांतिक आत्यंतिकश्च क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः।

9. नंदी (संपा. आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1977) सूत्र 65

10. अभिधानचिंतामणि (ले. हेमचंद्राचार्य, वाराणसी, 1996) 1/34...श्रुतकेवलिनो हि षट्।

11. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (ले. आचार्य उमास्वाति, अगास, 1932) 1/20, श्रुतमाप्तवचनं आगमः उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्।

12. विशेषावश्यकभाष्य I, (ले. जिनभद्रगणी, मुंबई, वि.सं. 2039), गाथा 1094, 1111, 1113

13. वही, गाथा 1118

14. वही, गाथा (वृत्ति), 1122, पृ. 254 : गणधरलक्षण-पुरुषापेक्षया स तीर्थंकर 'उप्पज्जेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा' इति मातृकापदत्रयमात्ररूपं स्तोकमेव भाषते, न तु द्वादशांगानि।

15. वही, गाथा 1119, अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

16. वही, गाथा 1081

17. नंदी, सूत्र 126, इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च, भवइ य, भविस्सइ च।

18. नंदी, 126वें सूत्र पर प्रदत्त टिप्पण

19. आवश्यकनिर्युक्ति (ले. हरिभद्रसूरि, मुंबई, वि.सं. 2038), गाथा वृत्ति 735, पृ. 85 : तत्र गौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि। प्रणिपत्य पृच्छा निषद्योच्यते। भगवांश्चाचष्टे-उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा। एता एव तिस्त्रो निषद्याः, आसामेव सकाशाद् गणभृताम् 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति प्रतीतिरुपजायते, अन्यथा सताऽयोगात्। ततश्च ते पूर्वभवभावितमतयो द्वादशांगमुपरचयन्ति।

20. आवश्यकचूर्णि, पृ. 370, सेसाणं अणियता णिसेज्जा।

21. वही, पृ. 337, जदा य गणहरा सव्वे पव्वजिता ताहे किर एगनिसेज्जाए एगारस अंगाणि चोद्दसहिं चोद्दस पुव्वाणि एवं ता भगवता अत्थो कहितो, ताहे भगवंतो एगपासे सुत्तं करेति, तं अखरेहिं पदेहिं वंजणेहिं समं।

22. वही, पृ. 370, तं कहं गहितं गोयमसामिणा? तिविहं (तीहिं) निसेज्जाहिं चोद्दस पुव्वाणि उप्पादिताणि। निसेज्जा णाम पणिवतिउण जा पुच्छा।

23. आवश्यकचूर्णि, पृ. 187, बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो, संजता इतो इतो य समुद्दतीरे अच्छित्ता पुणरवि पाडलिपुत्ते मिलिता, तेसिं अण्णस्स उद्देसओ अण्णस्स खंडं, एवं संघाडिंतेहिं एक्कारस अंगाणि संघातिताणि, दिट्ठिवादो नत्थि, नेपालवत्तणीए य भद्दबाहुस्सामी अच्छंति चोद्दसपुव्वी...पेसेह मेहावी सत्त पाडिपुच्छगाणि देमि,...थूलभद्दसामी ठितो... उवरिल्लाणि चत्तारि पुव्वाणि पढाहि, मा अण्णस्स देज्जासि, से चत्तारि तत्तो वोच्छिणा, दसमस्स य दो पच्छिमाणि वत्थूणि वोच्छिण्णाणि।

24. वही, पृ. 187, उवरिल्लाणि चत्तारि पुव्वाणि पढाहि, मा अण्णस्स देज्जासि, से चत्तारि तत्तो वोच्छिणा

25. (क) नंदी, सूत्र, भूमिका पृ. 16

(ख) दशवैकालिक की भूमिका में उद्धृत—जर्नल ऑफ दी बिहारी एण्ड ओडिसा रिसर्च सोसाइटी, भाग 13, पृ. 236

26. नंदीचूर्णि (ले. जिनदासगणी, बनारस, 1966), पृ. 9

27. नंदी, गाथा 33 (मलयगिरिवृत्ति पत्र 51)

28. Jacobi, Hermann : (क) Jain sutras (Delhi, 1980), XXII P.XXXIO : Devardhi's position relative to the sacred literature of the Jains appears therefore to us in a different light from what is generally believed to have been. He probably arranged the already existing manuscripts in a canon taking down from the mouth of learned the logicians only such works of which manuscripts were not available.

(ख) Winternitz, Maurice, History of Indian literature, (Delhi 1993), P. 417 : Devarddhi's labours consisted merely of compiling a canon of sacred writings partly with the help of old manuscripts, and partly on the basis of oral tradition.

(ग) मालवणिया, दलसुख, आगम युग का जैन दर्शन (जयपुर, 1990), पृ. 19

29. वीर निर्वाण, पृ. 110 (आगम युग का जैन दर्शन में उद्धृत)

30. वीर निर्वाण (आगम युग का जैन दर्शन में उद्धृत) पृ. 112

31. दसवेआलियं (संपा. मुनि नथमल, लाडनूं, 1974), भूमिका, पृ. 27

32. समाचारी शतक, आगम स्थापना अधिकार 38वां (दसवेआलियं भूमिका, पृ. 28 पर उद्धृत)

33. गच्छाचार पत्र, 3-4 (दसवेआलियं की भूमिका में उद्धृत)

34. अभिधान चिंतामणि, 1/33-34
35. प्रभावक चरित (ले. प्रभाचंद्राचार्य, अहमदाबाद, कोलकाता, 1940), (आर्यरक्षित) श्लोक 82-84
36. वही, आर्यनन्दिल, श्लोक 18
37. जैन सत्य प्रकाश (वर्ष 1, अंक 1, पृ. 15)
38. विशेषावश्यकभाष्य I, गाथा. 128
39. षट् खंडागम (धवला टीका) भाग 1 (संपा. डॉ. हीरालाल जैन, सोलापुर, 2000), पृ. 11-18
40. समवाओ, प्रकीर्णक समवाय (संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1984), सूत्र 88, दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते।
41. वही, 14/2, चउद्दस पुव्वा पण्णत्ता।
42. नंदी, सूत्र 73, अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।
43. स्थानांगसूत्रं समवायांगसूत्रंच (समवायांगवृत्ति) (संपा. मुनि जम्बू विजयजी, दिल्ली 1985), पृ. 72 : प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्।
44. नंदीमलयगिरिवृत्ति, पत्र 240, अन्ये तु व्याचक्षते—पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति, पश्चादाचारादिकम्।
45. नंदीचूर्णि, पृ. 75
46. आवश्यकचूर्णि, पृ. 370 : तं कहं गहितं गोयमसामिणा? तिविहं (तीहिं) निसेज्जाहिं चोद्दस पुव्वाणि उप्पादिताणि। निसेज्जा णाम पणिवतिउण जा पुच्छा।
47. विशेषावश्यकभाष्य I, गाथा 551 :
जइ वि य भूयावाए सव्वस्स व ओमयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥
48. आचारांगभाष्य (ले. आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं 1994), पृ. 14
49. समवाओ, 14/4, समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चउद्दस समणसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणसंपया होत्था।
50. नंदी, सूत्र 79, चोद्दस पइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।
51. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1/20, वक्तृविशेषाद् द्वैविध्यम्।
52. वही, 1/20 : यद् भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः
परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचन-
प्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोनुभावादुक्तं
भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धि-
सम्पन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदंगप्रविष्टम्।
गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्त-विशुद्धागमैः
परमप्रकृष्टवाङ्मतिबुद्धिशक्तिभिराचार्यैः
कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्
प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति।
53. (क) विशेषावश्यकभाष्य I, गाथा 550, गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा धुव-चल-विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।
(ख) वही, वृत्ति 550, गणधरकृतं, पदत्रयलक्षणतीर्थकरादेशनिष्पन्नं, ध्रुवं च यच्छ्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते, तच्च द्वादशांगीरूपमेव। यत्पुनः स्थविरकृतं, मुत्कलार्थाभिधानं, चलं च तदावश्यकप्रकीर्णादि श्रुतमङ्गबाह्यमिति।
54. तत्त्वार्थवार्तिक I (ले. आचार्य अकलंक, दिल्ली, 1993), सूत्र 1/20, आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्न-रूपमङ्गबाह्यम्।
55. समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र 89, से णं अंगट्ठया पढमे अंगे।
56. (क) नंदीमलयगिरिवृत्ति, पत्र 211, स्थापनामधिकृत्य प्रथममंगम्।
(ख) वही, पत्र 240 : गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधतः आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयन्ति वा।
57. (क) स्थानांगसूत्रं समवायांगसूत्रंच (समवायांग वृत्ति), पत्र 72, प्रथममंगं स्थापनामधिकृत्य, रचनापेक्षया तु द्वादशमंगम्।
(ख) वही, पत्र 121, गणधराः पुनः श्रुतरचनां विदधाना आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च।
58. आचारांगनिर्युक्ति (ले. आचार्य भद्रबाहु, मुंबई, 1928), गाथा 8
सव्वेसिं आयारो, तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं, एक्कारस आणुपुव्वीए॥
59. वही, गाथा 8 वृत्ति, गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रंथन्ति।
60. वही, गाथा 9
आयारो अंगाणं, पढमं अंगं दुवालसण्हं पि।
इत्थ य मोक्खोवाओ, एस य सारो पवयणस्स॥
61. आचारांगभाष्य, भूमिका, पृष्ठ 16
62. Schubring, Walther, The Doctrine of the Jains (Delhi, 1978), P. 74, Hence it follows that the two series were parallel to, not dependent on, each other.
63. समवाओ, पइण्णा समवाओ, सूत्र 89, दो सुयक्खंधा।
64. वही, 9/3, णव बंभचेरा पण्णत्ता।
65. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 11, णव बंभचेरमइओ।
66. समवाओ, 9/3
67. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 31-32
68. समावाओ, पइण्णम समवाओ, सूत्र 89
69. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 11, णवबंभचेरमइओ, अट्ठारसयसहस्सिओ।
70. षट्खंडागमः (धवला), पृ. 68 : तदो सव्वेसिमंगं पुव्वाणमेगदेसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।
71. अभिधान राजेंद्र कोश, भाग 2 (संपा. विजयराजेन्द्रसूरि, दिल्ली, 1985), पृ. 346 : आचारांगस्य व्यवच्छेदकालश्च विण्हमुणिम्मि मरंते।

72. (क) समवाओ, पइण्णग समवाओ, सूत्र 89
(ख) नंदी, सूत्र 80
73. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 33-34
74. आचारांगचूर्णि (ले. जिनदासगणि, रत्नपुर, वि.सं. 1998), पृ. 244 : महापरिण्णा ण पढिज्जइ असमणुण्णया।
75.आयारो (संपा. मुनि नथमल, लाडनूं, वि.सं. 2031), 1/2
76. वही, 1/4
77. वही, 3/62
78. वही, 2/87
79. वही, 2/22
80. वही, 5/101
81. वही, 3/74
82. आयारो, 3/80
83. वही, 6/48
84.वही, 3/12
85. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 16, अंगाणं किं सारो? आयारो।
86. निशीथ (संपा. अमरमुनि, दिल्ली, 1982), 19/1, जे भिक्खु णव बंभचेराइं अवाएता उत्तमसुयं वाएइ, वाएंतं वा सातिज्जति।
87. (क) दशवैकालिक चूर्णि, पृष्ठ 78, इदाणिं चुण्णपदं भण्णइ, जहा बंभचेराणि।
(ख) दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका (ले. हरिभद्रसूरी, मुंबई, 1918), पत्र 88 : चौर्णपदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवत्।
88. दशवैकालिकनिर्युक्ति (ले. आचार्य भद्रबाहु, अहमदाबाद, 1973), गाथा 174
अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं च चुण्णपयं।।
89. Jain Jagdish Chandra, Life in Ancient India Depicted in Jaina Canon and Commentaries, (Delhi, 1984), P. 43 : The first book of the Ayarang and that of the Suyagdainga and Uttarajjhayana contain the oldest part of the cannon from linguistic and literary point of view.
90. Jacobi, Herman, The Sacred Books of the East (Delhi, 1980), Vol. XXII, Introduction, Page 48
91. Winternitz, Maurice, History of Indian literature, P. 419 : The first section, which makes a very archaic impression, is most decidedly earlier than the second...

❖❖

सच तो यह है कि अगर हमारा मन चंगा हो तो कठौती में भी गंगास्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है। जब किसी कमरे में बल्ब फ्यूज हो जाता है तो हम सब अंधेरे में परेशान हो जाते हैं, लेकिन अगर किसी के पास एक छोटी-सी मोमबत्ती हो और वह उसे जला दे, तो सारे कमरे में थोड़ी-सी रोशनी फैल जाती है और सब लोग खुश हो जाते हैं। सिर्फ शोर मचाते रहने और दूसरों पर नाराज हो जाने से तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी तरह अगर हरेक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य को निभाने में ईमानदारी से लगा रहे तो उसके सत्-कार्य का प्रकाश समाज में फैले बिना न रहेगा और अंधेरे की जगह क्रमशः प्रकाश फैलने लगेगा। एक मोमबत्ती भी अंधकार में काफी रोशनी फैला देती है; फिर अगर कई मोमबत्तियां जलने लगें तो शायद 'बल्ब' की जरूरत भी न रहे।

विख्यात विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति ने एक बार कहा था कि संसार की समस्याएं दरअसल व्यक्तियों की समस्याएं होती हैं। यदि हर व्यक्ति सुधर जाए, कर्तव्यपरायण व सेवाभावी बन जाए तो दुनिया के कठिन मसले आसानी से सुलझ सकते हैं। लेकिन अगर व्यक्तियों में राग-द्वेष, अहंकार व स्वार्थ की भावनाएं प्रबल हैं तो संसार की कठिनाइयां घटने के बजाए बढ़ती ही जाएंगी।

—श्रीमन्नारायण

आत्मगत शिक्षण : लक्ष्य और स्वरूप

❑ दयालचन्द्र सौनी

❑

आत्मगत शिक्षण का लक्ष्य एवं स्वरूप

आत्मगत शिक्षण का लक्ष्य एवं स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि जो काम प्रारंभ में शिष्य के लिए उसका शिक्षक या गुरु करता है, वह काम आगे जाकर शिष्य अपने लिए स्वयं करने लग जाए। आत्मगत शिक्षण ही शिक्षा की विषयवस्तु है, आत्मगत शिक्षण ही शिक्षा की पद्धति है, आत्मगत शिक्षण ही शिक्षा का लक्ष्य है, आत्मगत शिक्षण ही शिक्षा की वास्तविक कसौटी है। जैसे सभी नदियों का पानी अंत में समुद्र में विलीन होता है, उसी प्रकार सभी शिक्षाएं अंत में आत्मगत शिक्षण में ही विलीन होती हैं तथा जैसे सभी नदियों में बहने वाला पानी मूल में वही पानी है जिसे सूर्य ने समुद्र से उठाकर आकाश से बरसाया, उसी प्रकार सभी विषयों में जो शिक्षा है—वह मूलतः आत्मगत शिक्षा में ही सन्निहित है। सही इंसान का निर्माण ही शिक्षा का लक्ष्य है जिसके बिना कोई भी व्यवस्थागत परिवर्तन या सुधार, न तो व्यक्तिगत समस्याओं को हल कर सकता है और न समाजगत समस्याओं को ही हल कर सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में जो नवीनतम बोध हमें ग्रहण करना है वह यही है कि इंसान अंततोगत्वा तभी सुधरेगा जब वह

आत्मगत शिक्षण कोई पढ़ाई नहीं है जो किसी पाठ्यपुस्तक से पढ़ी जा सके और किसी परीक्षा में बैठकर जिसके प्रश्नपत्रों के उत्तर लिखे जा सकें और जिसमें शिक्षा की डिग्रियां या उपाधियां प्राप्त की जा सकें। आत्मगत शिक्षण में जीवन का बोध है, आत्मगत शिक्षण में जीवन की साधना है,

5 सितंबर
शिक्षक दिवस पर

गुणों का अभ्यास है तथा आत्मानुशासन है। आत्मगत शिक्षण की साधना सामान्य पाठ्यक्रम या शिक्षण पद्धति से पूरी नहीं होगी और न उसका वैसा पाठ्यक्रम रचा जा सकता है जैसा भाषा-गणित-भूगोल-इतिहास आदि विषयों का रचा जाता है। आत्मगत शिक्षण एक बोध है, एक वृत्ति है, एक नीति है, एक जीवन-दर्शन है।

दूसरों को सुधारने का ठेका लेना छोड़कर स्वयं अपने को दुरुस्त करने का बीड़ा उठाना शुरू करेगा। मानवता ने इस धरती के इतिहास के हजारों बरस इस भ्रांतिपूर्ण चक्कर में बरबाद कर दिए हैं कि कोई एक विशिष्ट इंसान दूसरे इंसानों को अपने संकल्प से, अपने उपदेश से, या अपने डंडे या शासन से सुधार सकता है। सुधरने के निज संकल्प, सुधरने की निज प्रेरणा, सुधरने की स्वेच्छागत खोज और कोशिश के बिना कोई भी व्यक्ति केवल किसी शिक्षक, गुरु, संत, सुधारक, शासक, मसीहा या अवतार ही की कोशिश से कभी भी नहीं सुधरा। व्यक्ति में कुदरत से ही सुधार की जो प्रेरणा होती है, वह मूलतः आत्मसुधार ही के लिए होती है। परंतु शिक्षा, स्कूल, कॉलेज, संस्था, सुधारक, शिक्षक, गुरु, संत, महात्मा, पैगंबर, अवतार, शासक आदि से ही समाज के सुधार की संभावना के अंधविश्वासी रिवाज के आविष्कार के बाद आत्मसुधार के अपने दायित्व की तरफ से इंसान ने अपनी आंखें मूंद ली हैं तथा हर व्यक्ति ने अपने को छोड़ते हुए किसी-न-किसी दूसरे इंसान को सुधारने का ठेका लेना शुरू कर दिया है। इससे सुधार एक ऐसा काम हो गया है जो लगातार दूसरे पर थोपा जाए और जिससे स्वयं को बचा

लिया जाए। बस, समाज एवं व्यक्ति की वर्तमान विकृति (अर्थात् कलियुग की व्याप्ति) का मूल यही है, रहस्य भी यही है। अनौपचारिक शिक्षा को यह रहस्य समझना होगा कि आत्मगत शिक्षा तथा आत्मसुधार पर बल न देकर, उसकी साधना में तल्लीन न होकर, सुधार की प्रक्रिया दूसरों पर थोपते जाने से ही वर्तमान युग कलियुगी हो गया है। अनौपचारिक शिक्षा वह है जिसमें व्यक्ति आत्मसुधार का दायित्व स्वयं उठाए और आत्मशिक्षा के लिए जीना शुरू करे। आज हमें पता नहीं है कि हम जीते क्यों हैं। 'आत्मगत शिक्षण' का लक्ष्य यही है कि 'मनुष्य सही साधनों द्वारा सही साध्यों के लिए जीना सीखे।' ऐसा करने से मनुष्य को पता चलेगा कि जीवन एक शाश्वत शिक्षा है, जीवन एक निरंतर विकास है, जीवन एक अनंत क्षितिज की नित-नूतन यात्रा है जो सार्थकता एवं आनंद से परिपूर्ण है।

विषयगत और आत्मगत शिक्षण

आत्मगत शिक्षण कोई पढ़ाई नहीं है जो किसी पाठ्यपुस्तक से पढ़ी जा सके और किसी परीक्षा में बैठकर जिसके प्रश्नपत्रों के उत्तर लिखे जा सकें और जिसमें शिक्षा की डिग्रियां या उपाधियां प्राप्त की जा सकें। आत्मगत शिक्षण में जीवन का बोध है, आत्मगत शिक्षण में जीवन की साधना है, गुणों का अभ्यास है तथा आत्मानुशासन है। आत्मगत शिक्षण की साधना सामान्य पाठ्यक्रम या शिक्षण पद्धति से पूरी नहीं होगी और न उसका वैसा पाठ्यक्रम रचा जा सकता है जैसा भाषा-गणित-भूगोल-इतिहास आदि विषयों का रचा जाता है। आत्मगत शिक्षण एक बोध है, एक वृत्ति है, एक नीति है, एक जीवन-दर्शन है, जिसे शिक्षक पहले तो स्वयं ही अपनाएगा, अपने जीवन में उतारेगा और बाद में अपनी संगति तथा अपनी मिसाल से विद्यार्थियों को भी देने की कोशिश करेगा। आत्मगत शिक्षण मनुष्य के संस्कारों के अथवा उसके चरित्र के निर्माण का पहलू है जो जानकारी या सूचना देने से उतना सफल नहीं होगा जितना अध्यापक एवं समाज द्वारा उपयुक्त वातावरण खड़ा करने से संभव तथा सफल होगा।

शिक्षा की द्विमुखी प्रकृति। शिक्षा का फल, मुक्ति या बंधन? शिक्षा सांत या निरंत?

शिक्षा शिष्टाचार के मुलम्मे का नाम नहीं है बल्कि 'आत्मस्वर्ण के परिशोधन' का नाम है। शिक्षा की गति दुहरी है। शिक्षा जहां बाहर से भीतर की ओर जाती है, वहीं शिक्षा को भीतर से बाहर की ओर भी आना चाहिए। 'सा शिक्षा या विमुक्तये' अथवा 'सा शिक्षा या बंधनाय'?—आत्मगत शिक्षण का यह विषय कुछ ऐसा अद्‌भुत है कि जिसकी परिभाषा अथवा व्याख्या सरल नहीं है। पाठ्यक्रम के नाम से आमतौर पर तो हम जानते हैं कि उसमें प्रायः कुछ विशिष्ट जानकारियों अथवा कुशलताओं की इकाइयों का क्रमबद्ध संकलन होता है और अपेक्षा यह होती है कि शिक्षक अपने विद्यार्थियों को उनका ज्ञान देगा अथवा अभ्यास कराएगा तथा परीक्षक मौखिक या लिखित या क्रियारूप में उन बातों में निपुणता की दृष्टि से विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर उन्हें पास या फेल करेगा तथा विद्यार्थियों का उनकी निपुणता की दृष्टि से श्रेणीगत विभाजन करेगा। पाठ्यक्रम की इस प्रचलित दृष्टि से यदि देखा जाए तो आत्मगत शिक्षण के जो अंग यहां सुझाए जाने वाले हैं उनको पाठ्यक्रम के रूप में माना ही नहीं जा सकता। पर यदि पाठ्यक्रम का अर्थ यह लिया जाए कि जो भी बातें विद्यार्थियों की शिक्षा की समग्रता की दृष्टि से शिक्षा की अनिवार्य अंग हैं, उन सभी का समावेश पाठ्यक्रम में होना ही चाहिए तब तो यही मानना होगा कि आत्मगत शिक्षण का अंश शैक्षिक पाठ्यक्रम का सबसे श्रेष्ठ, सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। कठिनाई सारी यह है कि शिक्षा को अनिवार्यतः परीक्षा का विषय बना दिया गया है। हम मानने लग गए हैं कि शिक्षा वही है जिसकी तुरंत परीक्षा लेकर, जिसकी उपलब्धि का तुरंत मूल्यांकन किया जा सके तथा जिसके लिए तुरंत प्रमाण पत्र बांटे जा सकें। जो तत्काल परीक्षा की पकड़ में नहीं आ सके वह शिक्षा नहीं है, शिक्षा का अंग ही नहीं है—ऐसी मान्यता आज की शिक्षा में रूढ़ हो गई है। हम नहीं जानते कि शिक्षा की परीक्षा शिक्षा की समाप्ति होते ही, परीक्षा-भवन में प्रश्नपत्रों का उत्तर लिखने से संभव नहीं है, बल्कि शिक्षा की परीक्षा आजीवन चलेगी, पल-पल में होगी, पग-पग पर होगी और निर्णय दाह-संस्कार के समय श्मशान घाट पर या दफन के वक्त कब्रिस्तान पर होगा कि व्यक्ति की शिक्षा ठीक हुई थी या नहीं हुई थी। उस समय जो लोग अंतिम संस्कार के लिए एकत्र होंगे वे ही अपनी आपसी चर्चा में मरने वाले व्यक्ति की शिक्षा का मूल्यांकन करेंगे। बस, वही एकमात्र मूल्यांकन है और व्यक्ति की शिक्षा का खरा मूल्यांकन है। अतः जो उस अंतिम, मुकम्मिल तथा खरे मूल्यांकन की तैयारी का विषय है वही आत्मगत शिक्षण का विषय है तथा वही अनौपचारिक शिक्षा का मूल विषय है। भाषा-गणित-भूगोल-इतिहास-विज्ञान-कला-कौशल आदि ऐसे विषय हैं जो ज्ञान, योग्यता तथा अभ्यास से संबंध रखते हैं। पर आत्मगत शिक्षण में जो बातें हैं वे मनुष्य की वृत्ति, मनुष्य की दृष्टि, मनुष्य की नीयत, मनुष्य की भावना तथा मनुष्य के जीवन के लक्ष्य से संबंध रखती हैं। मैं नहीं कहता कि वृत्ति, दृष्टि, नीयत,

भावना, लक्ष्य तथा कोई ऐसी बातें हैं जिनको मनुष्य के ज्ञान से, उसकी योग्यता से, उसकी साधना या उसके अभ्यास से पृथक् किया जा सके। फिर भी योग्यता, ज्ञान तथा अभ्यास का शिव या अशिव होना तो मनुष्य की वृत्ति, नीयत, भावना तथा लक्ष्य से ही आंका जा सकेगा। शिक्षा की परिधि में यही नहीं आता कि मनुष्य का ज्ञान कितना है, उसकी दक्षता कितनी है, उसकी साधना कितनी है, उसकी संपदा कितनी है, बल्कि शिक्षा की परिधि में यह भी आता है कि मनुष्य का जीवन-लक्ष्य क्या है, मनुष्य की भावना तथा नीयत कैसी है, मनुष्य की वृत्ति कैसी है। शिक्षा मनुष्य को बाहर ही से नहीं, बल्कि भीतर से भी संवारती है, संस्कारित करती है। शिक्षा किसी धातु पर मुलम्मा चढ़ाना नहीं है, बल्कि स्वयं धातु ही का परिशोधन है। औपचारिक शिक्षा को हम *तालीमेमुलम्मा* का नाम दे सकते हैं, जबकि वास्तविक तालीम 'तालीमेखुलूस' यानी 'मूल धातु के परिशोधन' का नाम है। जैसे खान से निकलने वाली धातु अपनी प्रथम स्थिति में ही परिशुद्ध नहीं रहती तथा उसे तप में देकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य में जो तरह-तरह की उलटी-सीधी वृत्तियां पाई जाती हैं, उनका संयम, साधना, अभ्यास एवं तपस्या द्वारा अधिकाधिक संशोधन करना ही शिक्षा है और यही अनौपचारिक शिक्षा है। मनुष्य की आत्मा उस शुद्ध स्वर्ण के समान है जिसमें तरह-तरह की तामसी, राजसी एवं सात्त्विक वृत्तियों का सम्मिश्रण हो गया है या जो उस आत्मा से चिपक गई हैं और जीवन एक साधना या तप है जिसका लक्ष्य उस आत्मस्वर्ण को पुनः उसके परिशुद्ध रूप में लाना है। अब यदि हम जीवन के इस स्वरूप को तथा जीवन के इस लक्ष्य को समझ लें तो संपूर्ण जीवन स्वयं शिक्षा का रूप ग्रहण कर लेता है और शिक्षा स्वयं ही जीवन का रूप ग्रहण कर लेती है और यही अनौपचारिक शिक्षा का वास्तविक स्वरूप है कि शिक्षा स्वयं ही जीवन बन जाए और जीवन स्वयं ही शिक्षा बन जाए। अब यह बात तब तक संभव नहीं है जब तक कि हम यह न समझ लें कि अव्वल तो शिक्षा का क्षेत्र (अर्थात् शिष्य) आत्मगत है और दूसरे, शिक्षा की प्रेरणा (अर्थात् गुरु) भी आत्मगत है।

'हम स्वयं ही शिष्य हैं और हम स्वयं ही गुरु हैं'—इस भेद को जो खोल दे वही अनौपचारिक शिक्षा है और जो शिक्षा इस भेद को अपने ट्रेड सीक्रेट (या व्यापारिक गुर) की तरह लगातार गोपनीय रखे तथा न तो कभी खुलने दे और न कभी काम में आने दे, वही औपचारिक शिक्षा है। औपचारिक शिक्षा वह है जो मनुष्य को उसके शिष्यत्व के स्तर से उठने देकर उसके आत्मगुरुत्व के स्तर को कभी भी प्राप्त न करने दे, ताकि मनुष्य अपनी शिक्षा के बारे में हमेशा परमुखापेक्षी तथा गुलाम बना रहे। जहां अनौपचारिक शिक्षा में 'सा शिक्षा या विमुक्तये' का सिद्धांत चरितार्थ होता है, वहीं औपचारिक शिक्षा में यह सिद्धांत चरितार्थ होता है कि 'सा शिक्षा या बंधनाय', क्योंकि विमुक्ति तो इसमें है कि हम शिक्षा द्वारा आत्मशिक्षकता का स्तर प्राप्त कर लें और बंधन इसमें है कि इस शिक्षा के बारे में तथा शिक्षा के लिए परमुखापेक्षी, परनिर्भर बने रहें। यदि हम शिक्षा की वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान दें तो हमें पता चलेगा कि यह बात कितनी सच है। आज हमारे घरों पर बालक की कोई भी शिक्षा होना संभव नहीं मानी जाती। शिक्षा बालवाड़ी में बच्चे को भेजने से प्रारंभ होती है। इसके बाद जैसे-जैसे विद्यार्थी तथाकथित रूप से 'शिक्षित' होता जाता है, वैसे-वैसे शिक्षा के लिए अधिकाधिक परमुखापेक्षी बनता जाता है। वह शिक्षा के लिए पहले अपना गांव छोड़ता है, बाद में छोटा शहर छोड़ता है, उसके बाद बड़ा शहर छोड़ता है तथा अंत में वह स्वदेश छोड़कर विदेश जाता है। शायद अब वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य को अपनी शैक्षिक उपाधियां बढ़ाने तथा चढ़ाने के लिए किसी और ग्रह या नक्षत्र में जाकर भी हाजिरी देनी पड़े। मैं विदेश यात्रा या विदेशों से शिक्षा लेने के विरोध में नहीं लिख रहा हूं। पर प्रश्न यह है कि यदि शिक्षा को सार्वजनीन हो जाना है तथा कतिपय सौभाग्यशालियों तथा विशेषाधिकारियों तक परिसीमित नहीं रहना है तो शिक्षा में यह विस्थानीय (केवल विदेशी नहीं बल्कि विस्थानीय) अथवा परस्थानीय एवं परजनीय निर्भरता कहां तक कारगर होगी? साथ ही यदि शिक्षा को 'सांत' (स+अंत) न रहकर 'निरंत' (अंतहीन) होना है, जैसा कि अनौपचारिक शिक्षा को होना ही है, तो शिक्षा के बारे में परस्थानीय तथा परजनीय निर्भरता कहां तक कारगर होगी? शिक्षा के प्राचीन भारतीय परिबोध से यह वर्तमान धारणा कितनी उलटी है? बेचारे सिद्धार्थ तो शिक्षा के लिए शहर छोड़कर गांव की तरफ गए और जब गांव भी प्रतिकूल रहा तो सर्वथा एकांत में चले गए, जब परिवार की संगति शिक्षा के लिए प्रतिकूल रही तो कुछ संन्यासियों की संगति में चले गए और जब उनकी संगति भी प्रतिकूल रही तो वे केवल आत्मसंगति तक परिसीमित हो गए ताकि वे शिक्षित हो सकें—बुद्ध हो सकें और वे सचमुच शिक्षित हो गए, बुद्ध हो गए। सिद्धार्थ के समय भी स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय अवश्य रहे होंगे। मैं नहीं कहता कि स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय निरर्थक और निक्कमे हैं, पर शिक्षा का एक पहलू और भी है। बस, इतना-सा ही मैं कहना चाहता हूं और वह जो एक पहलू

और भी है, वही आत्मगत शिक्षण का पहलू है जिसके बिना अनौपचारिक शिक्षा अनौपचारिक नहीं हो पाएगी। दूसरे के कुओं से पानी पीना बुरा नहीं है, क्योंकि पानी के बिना काम नहीं चलता। पर प्रत्येक इंसान के भीतर पानी की जो अजस्र धारा बह रही है उसको खोदकर अनावृत किए बिना मनुष्य की प्यास को बुझाने का वास्तविक प्रबंध नहीं हो सकता। औपचारिक शिक्षा कहती है कि तुम अपने भीतर निहित जलस्रोत को अनावृत मत करो पर दूसरों ने जो कुएं खोद रखे हैं उन्हीं से पानी ले जाओ तथा उसी को पियो। औपचारिक शिक्षा कहती है कि शिक्षा की खोज अपने बाहर ही करो और जो बाहर से मिले उसे ही ग्रहण करो। अनौपचारिक शिक्षा कहती है कि शिक्षा वह है जो भीतर से बाहर भी आती है और बाहर से भीतर भी जाती है। इसलिए शिक्षा का अभ्यास दुहरा होना चाहिए। एक अभ्यासक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें शिक्षा बाहर से भीतर की तरफ जाए और दूसरा अभ्यासक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें शिक्षा भीतर से बाहर की तरफ आए। बस, ऐसी उभयमार्गी शिक्षा का ही नाम अनौपचारिक शिक्षा है, जिसमें विषयगत शिक्षण बाहर से भीतर और आत्मगत शिक्षण भीतर से बाहर आने का मार्ग अपनाता है।

आत्मशिक्षण के आठ अंग

इस आत्मगत शिक्षण के क्या-क्या पहलू या अंग हो सकते हैं—इस पर अपने सामर्थ्यानुसार गहरा विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसके निम्नलिखित आठ अंग या पहलू हो सकते हैं—

(1) समयानुशासन (2) अर्थानुशासन (3) आरोग्यानुशासन (4) चित्तानुशासन (5) विचारानुशासन (6) श्रद्धानुशासन (7) चरितानुशासन (8) स्वानुशासन

ये आठों शिक्षांग ऐसे हैं जिनमें जानकारी की प्राप्ति गौण है और साधना या अभ्यास का अंश महत्त्वपूर्ण तथा अधिक है। इसलिए मैंने आत्मगत शिक्षण के इन आठों अंगों को एक-एक अनुशासन के रूप में माना है। इन आठ अनुशासनों की सूची उपरोक्तानुसार है वह किसी सीमा तक आत्मगत शिक्षण के अपेक्षतया स्थूलाभ्यास से अपेक्षतया सूक्ष्माभ्यास की तरफ बढ़ती प्रतीत होती है। ❖

मनुष्य कितना विश्वासी है, कितना बौद्धिक, कितना भावुक, कितना तार्किक—इसे कहना बहुत कठिन है। इसका संबंध सचेतन मस्तिष्क से कहीं अधिक अवचेतन मस्तिष्क से है। एक उदाहरण दूंगा। अजित अभी दो-ढाई महीने का था कि उसके सारे बदन पर बड़े-बड़े लाल दाने निकल आए, जोरों का बुखार चढ़ आया। मैंने अपने मन से कहा, 'यदि अजित बच जाएगा तो मैं कभी मांस न खाऊंगा।' रात का पिछला पहर था या सुबह का मुंह-अंधेरा, तेजी ने मुझे जोर की आवाज दी। मैंने समझा, कुछ अनिष्ट हो गया, पर वह तो तेजी के हर्ष-आश्चर्य का स्वर था। अजित के बदन से सारे दाने गायब हो गए थे। उसका बुखार उतर गया था और वह मुस्करा रहा था। चमत्कार हो गया था, चमत्कार! मैंने किसी अज्ञात को धन्यवाद दिया।...

मैं अपने से की अपनी प्रतिज्ञा निभाए जा रहा हूं। शायद मेरे अवचेतन में कहीं कोई आस्था है—त्याग में, बलिदान में, प्रेम में, त्याग-बलिदान के प्रभाव में। ऐसी प्रतिज्ञाओं से एक इच्छा-बल तो निश्चय जगता है। क्या उस इच्छा-बल से मनोजगत में कोई इच्छित कार्य कराया जा सकता है? या यह सब मेरी कल्पना है?...अंत में, आस्तिकता शायद आत्मविश्वास है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, 'आत्मवान भव।' शायद इतने ही अर्थ में मैं अपने को यत्किंचित आस्थावान या आत्मवान कह सकता हूं। अब मैं समझता हूं कि दूसरों की आंतरिक आवश्यकताओं, आस्थाओं, विश्वासों का उपहास या उनकी आलोचना करना ठीक नहीं, समझ सकें तो समझना चाहिए और सहिष्णु तो उनके प्रति हर हालत में होना चाहिए।

—बच्चन की आत्मकथा से

अनुभूति

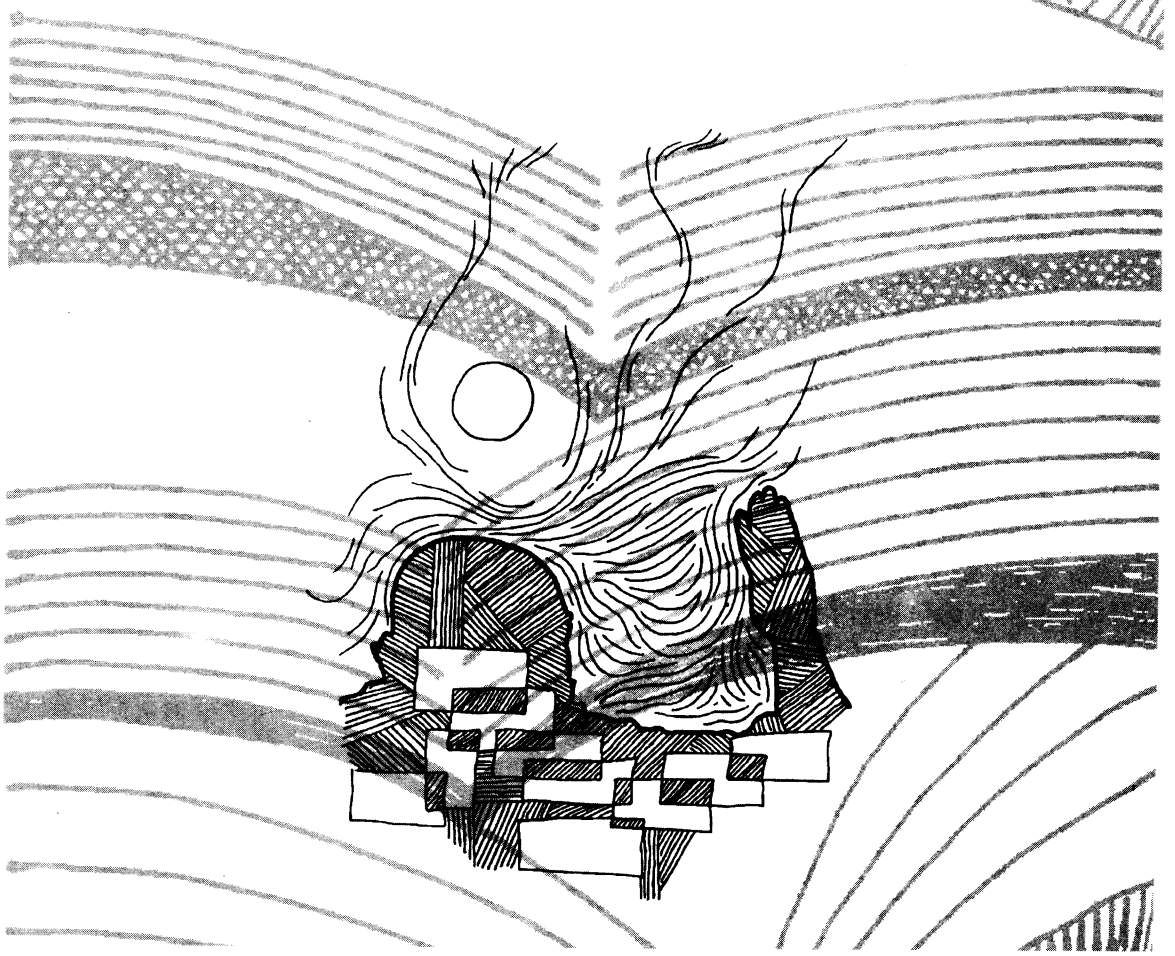

मैंने देखा
एक बूंद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रंग गई क्षण-भर
ढलते सूरज की आग से।

मुझको दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से!

—अज्ञेय

सत्यान्वेषी पंथ-संचालक

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

❑

आचार्य भिक्षु मात्र तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक ही नहीं हैं, वे और भी बहुत-कुछ हैं। वे शाश्वत सत्य के प्रशस्त व्याख्याकार भी हैं। पंथ के प्रवर्तकों की गणना में तो अनेक नाम हो सकते हैं, पंथ को चलाने वाले भी अनेक हो सकते हैं, किंतु शाश्वत सत्यों की उद्घोषणा करने वाले विरले ही होते हैं, शाश्वत सत्यों के व्याख्याकार कुछेक ही होते हैं, बहुत कम होते हैं।

अर्थ नए और पुराने

आचार्य भिक्षु अनुभव-पुरुष थे। उन्होंने अनुभव के स्तर पर सत्य को उपलब्ध किया। वे बौद्धिक पुरुष नहीं थे। बुद्धि के स्तर पर सत्य की व्याख्या करने वाले सत्य को सीमित कर देते हैं, सत्य को बांट देते हैं, तोड़ देते हैं, उसे सामयिक बना देते हैं। बुद्धि का सत्य हमेशा सामयिक होता है। जैसे-जैसे समय के चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे सामयिक सत्य पुराना होता जाता है। पुराने का अर्थ है—वर्तमान के लिए अनुपयोगी, व्यर्थ। जैसे-जैसे समय के चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे शाश्वत सत्य नया होता जाता है। नए का अर्थ है—आज के लिए उपयोगी, सार्थक।

तेरापंथ एक धर्मसंघ है और ऐसा संगठन है जो पिछले 244-45 वर्षों से अपनी मर्यादाओं में रहते हुए एक ओर आध्यात्मिक स्तर पर किए जा रहे नवोन्मेषों के लिए पहचाना जाता है तो दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्रचना के महती कार्यों में भी योगभूत है। एक धर्मसंघ की सीमाओं को बखूबी समझते हुए किस तरह उनका अतिक्रमण भी हो सकता है—तेरापंथ संघ के अधिष्ठाताओं ने यह भी कर दिखाया है। जब चारों ओर अराजकता, विषमता और अनुशासनहीनता ही नजर आती हो तो तेरापंथ के बीज में आखिरकार ऐसा क्या है कि इन सब विकृतियों से वह मुक्त है? क्या है उसके बीज में?

मानना होगा—संत भीखणजी की मेधा, निष्ठा, निष्पृहता और निष्कलुषता ही तेरापंथ के बीज में है। उनके निर्वाण को दो सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी, सं. 2060 (8 सितंबर '03) को स्वामीजी का दो सौ एकवां 'चरमोत्कर्ष दिवस' है। उनके निर्वाण के द्विशताब्दी वर्ष पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह आलेख—

आचार्य भिक्षु ने अपने अनुभव के आधार पर जिस सत्य की व्याख्या की है, वह सत्य इतना व्यापक और विराट् है कि उसे तेरापंथ की सीमा में नहीं बांधा जा सकता।

सहज भाषा : शाश्वत सत्य

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—'आप कहते हैं कि एक महाव्रत टूटता है तो पांचों टूट जाते हैं—यह कैसे? एक टूटता है तो एक ही टूटेगा, भला पांचों कैसे टूटेंगे?'

आचार्य भिक्षु ने अपनी सहज अनुभव वाणी में कहा—'सुनो भाई! एक भिखारी को कुछ आटा मिला। वह रोटी पकाने बैठा। उसने एक रोटी सेक ली, दूसरी रोटी सिक रही थी, तीसरी का आटा कठोती में था। चौथी रोटी का आटा उसके हाथ में था और पांचवीं रोटी अंगारों पर थी। इतने में एक कुत्ता आया, जो कठोती में था उसे ले भागा। आदमी उसके पीछे दौड़ा। जो हाथ में था, वह नीचे गिरकर धूल में मिल गया। पीछे से

एक बिल्ली आई, वह सिकी रोटी ले गई। तवे पर रखी रोटी जल गई। अंगारों पर रखी रोटी भी मानो कि राख ही हो गई। इस तरह पांचों रोटियां समाप्त हो गईं। एक समाप्त, तो पांचों ही समाप्त। एक टूटा, पांचों टूटे।' इतनी सहज भाषा में उन्होंने एक शाश्वत सत्य का निरूपण कर डाला।

अनुभव होता है सीमातीत

मुझे आश्चर्य तब हुआ जब मैंने पद्मपुराण का एक श्लोक देखा। मुझे लगा—अनुभव की वाणी कितनी विराट् और व्यापक होती है। उसे सीमा में बांधा नहीं जा सकता। पद्मपुराण का श्लोक है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च, क्षमाशौचतपोदम।
सन्तोषः सत्यमस्तेयं, व्रतानि तु विशेषतः॥
एकेन व्रतहीनेन, व्रतमस्य तु लुप्यते।

हम देखें—सत्य कितना समीकृत है। जो स्वर आचार्य भिक्षु का था, वही स्वर सैकड़ों वर्ष पहले रचे गए पद्मपुराण में उल्लिखित है। उस स्वर का अर्थ—ब्रह्मचर्य, अहिंसा, क्षमा, शौच, तप, दम, संतोष, सत्य और अस्तेय—ये नौ व्रत हैं। यदि इनमें से एक भी व्रत टूटता है तो सारे व्रत टूट जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने भी यही कहा—'एक महाव्रत टूटने पर पांचों महाव्रत टूट जाते हैं।' पद्मपुराणकार ने कहा—एक व्रत के टूटने पर नौ व्रत टूट जाते हैं। दोनों में कोई अंतर नहीं है। अंतर सामयिक सत्यों में होता है। जहां हमारी सामयिक सत्य की पकड़ होती है, वहां अवरोध खींचे जाते हैं, दीवारें खींची जाती हैं।

सामयिक सत्य : शाश्वत सत्य

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों गुरु-सेवा के लिए उत्सुक थे। गुरु ने अपने शरीर को दो भागों में बांट दिया और कहा—एक भाग की सेवा तुम करो और दूसरे भाग की सेवा के लिए दूसरे शिष्य से कहा। गुरु नींद ले रहे थे। दोनों शिष्य पैर दबा रहे थे। नींद का झोंका आया और दायां पैर बाएं की ओर चला गया। बाएं पैर के लिए उत्तरदायी शिष्य ने दाएं पैर पर जोर से मुक्का मारा और कहा—मेरे हिस्से में आता है! बेचारे गुरु मुष्टि मार से छटपटाकर उठ गए।

सामयिक सत्य ऐसे होते हैं। इनमें यह नहीं सोचा जाता कि पैर किसका है, गुरु का है या और किसी का? मेरी सीमा में वह नहीं आना चाहिए। भले फिर वह गुरु का हो या बाप का हो। यह सीमा की बात, विभाजन की बात सामयिक सत्यों के साथ जुड़ी हुई होती है। इसे टाला नहीं जा सकता।

तेरापंथ के दो अर्थ

आचार्य भिक्षु ने सामयिक सत्यों के साथ-साथ शाश्वत सत्यों की घोषणाएं भी कीं। यह उनकी महत्त्वपूर्ण और अमर देन है। हम आचार्य भिक्षु को केवल तेरापंथ की व्यवस्था, तेरापंथ के संगठन, तेरापंथ की मर्यादाओं तक ही सीमित न रखें। यह तो उनका एक छोटा-सा पक्ष है। यह उनके कर्तृत्व की एक स्फुरणा और अंकुर है, किंतु उनके अनुभव की चेतना भी बहुत विराट् थी। अपेक्षा है—हम उनके विराट् रूप को देखें और समझें।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का अर्थ करते हुए कहा—जो साधक पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां—इन तेरह नियमों का पालन करता है, वह तेरापंथी है। तेरापंथ का दूसरा अर्थ है—हे प्रभो! यह तेरापंथ। एक अर्थ है—सैद्धांतिक और दूसरा है—प्रणतिपूरक।

बुद्धि के स्तर पर सत्य की व्याख्या करने वाले सत्य को सीमित कर देते हैं, सत्य को बांट देते हैं, तोड़ देते हैं, उसे सामयिक बना देते हैं। बुद्धि का सत्य हमेशा सामयिक होता है। जैसे-जैसे समय के चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे सामयिक सत्य पुराना होता जाता है। पुराने का अर्थ है—वर्तमान के लिए अनुपयोगी, व्यर्थ। जैसे-जैसे समय के चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे शाश्वत सत्य नया होता जाता है। नए का अर्थ है—आज के लिए उपयोगी, सार्थक।

आचार्य भिक्षु ने अपने अनुभव के आधार पर जिस सत्य की व्याख्या की है, वह सत्य इतना व्यापक और विराट् है कि उसे तेरापंथ की सीमा में नहीं बांधा जा सकता।

पूज्यपाद : आचार्य भिक्षु

दिगंबर परंपरा के महान् आचार्य पूज्यपाद ने एक ग्रंथ लिखा। उसका नाम है—'निर्वाणभक्ति'। मैं उसे पढ़ रहा था। वहां महावीर की स्तुति में आचार्य कहते हैं—'प्रभो! आपने तीन गुप्तियां, पांच समितियां और पांच महाव्रत—कुल तेरह प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया, जो पहले किसी तीर्थंकर ने नहीं किया। किसी आचार्य ने भी यह तेरह प्रकार का धर्म पहले कभी प्रतिपादित नहीं किया। आपने वह किया, इसलिए आपको नमस्कार करता हूं।'

मैंने सोचा—आचार्य भिक्षु पूज्यपाद में कहां से प्रविष्ट हो गए या पूज्यवाद की आत्मा आचार्य भिक्षु में कहां से प्रविष्ट हो गई? हम यह याद रखें—शाश्वत सत्य के

बीच कोई रेखा नहीं होती। वह सत्य कालातीत और देशातीत होता है। यह प्रत्येक देश और काल में समान रूप से उपलब्ध होता है। अनुभव की यह वाणी आचार्य भिक्षु को कैसे उपलब्ध हुई—यह एक प्रश्न है। कोई कहता है—उन्हें यह सहज उपलब्ध हुई, किंतु यह कथन भी विचारणीय है। मैं नहीं सोचता कि उन्हें यह सहज उपलब्ध हुई है।

आगे तक जाएं

आचार्य भिक्षु बहुत बड़े मर्यादा-पुरुष थे। उन्होंने बहुत बड़ी मर्यादाएं स्थापित कीं और कठोरता से उनका पालन भी किया। प्रश्न है—क्या इस भूमिका पर जीवन बिताने वाला कोई भी व्यक्ति इतना अनुभव-सिद्ध पुरुष बन सकता है? इंद्रियों के स्तर पर, मन के स्तर पर और बुद्धि के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति क्या इतने गूढ़ रहस्यों का, सत्यों का प्रतिपादन कर सकता है? यह बात समझ में नहीं आती। हम यह कहकर इस प्रश्न को समाहित कर देते हैं कि आचार्य भिक्षु औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी थे। औत्पत्तिकी बुद्धि अर्थात् प्रातिभज्ञान। उन्हें प्रातिभज्ञान उपलब्ध था। किंतु प्रश्न है कि वह ज्ञान कैसे हुआ? इस प्रश्न को हल करने के लिए हमें बहुत आगे तक जाना होगा।

रहस्य : प्राण-नियंत्रण का

आचार्य भिक्षु एक महान् अध्यात्म-साधक थे। उन्होंने जो-कुछ पाया, वह इसी साधना से पाया। वे गहरे में उतरते थे। एक बार आचार्य भिक्षु ने कहा था—'यदि दो घंटे में मुक्ति मिलती है तो मैं दो घंटे तक श्वास रोककर भी रह सकता हूं।' जिस व्यक्ति ने अपने प्राण को वश में नहीं किया हो उसके कथन को तो अतिशयोक्तिपूर्ण कह सकते हैं, पर आचार्य भिक्षु ऐसा कभी नहीं कह सकते। एक साधक का कथन अतिशयोक्ति-भरा नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु के इस कथन की पृष्ठभूमि में उनके प्राण-नियंत्रण का रहस्य होना चाहिए।

महान साधक

कहा जाता है—आचार्य भिक्षु जब अंतिम अवस्था में थे तब उन्हें अवधिज्ञान हुआ, पूर्वाभास हुआ। उन्होंने पहले की घटनाएं जान लीं। यह क्यों हुआ? आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास पद्मासन की मुद्रा में बैठे-बैठे हुआ। क्या बैठे-बैठे कोई आदमी मरता है? उनकी इच्छामृत्यु हुई। यह इच्छामृत्यु एक महान साधक की जागरूक अवस्था में हो सकती है, सामान्य साधक की नहीं, वे महान साधक थे। क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है, जो इतना सहिष्णु हो? वे चलते गए, चलते गए, चलते गए। कभी नहीं थके। चलने वालों में वे खड़े थे। खड़े रहने वालों में वे बैठे थे। बैठे लोगों में वे सोए हुए थे और सोए हुए व्यक्तियों में वे इतने जागरूक थे कि उनका शिथिलीकरण चरम-बिंदु पर पहुंच गया, शिखर पर पहुंच गया।

बुद्धि का स्तर : आत्मा का स्तर

एक बहुत बड़ा साधक जा रहा था। सामने एक डाकू आया। वह बोला—'खड़े रहो।' साधक ने कहा—'मैं तो खड़ा हूं, तुम चल रहे हो।' डाकू बोला—'यह कैसे? मैं तो खड़ा हूं और तुम चल रहे हो।' साधक ने कहा—'जिसका मन चलता है, वह खड़ा हुआ भी चल रहा होता है। जिसका मन शांत है, वह चलता हुआ भी स्थिर है।'

आचार्य भिक्षु चलने वालों में खड़े थे और इस प्रकार खड़े थे कि सब आश्चर्यचकित थे। किसी ने छाती में मुक्का मारा, किसी ने गालियां दीं—वे विचलित नहीं हुए। विचलित वह होता है, जो बुद्धि के स्तर पर जीता है। आत्मा के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति कभी विचलित नहीं होता। उस तक ये सारी बातें पहुंच ही नहीं पातीं।

आचार्य भिक्षु ने आत्मा के स्तर पर अपने जीवन को जिया। इसीलिए वे कष्टों में अविचल बने रहे। कहा जा सकता है—आचार्य भिक्षु की स्मृति आत्मा के स्तर पर जीने वाले व्यक्तित्व की स्मृति है। जो व्यक्ति मन, बुद्धि और इंद्रिय से परे आत्मा के स्तर पर जीना सीख लेता है, वह आदर्श व्यक्तियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो जाता है। आचार्य भिक्षु इसी अर्थ में तेरापंथ धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य के लिए आदर्श-पुरुष बने हुए हैं। ❖

मनुष्य के जीवन में दो ही बातें तीखे कांटों के समान शरीर को कष्ट पहुंचाने वाली हैं—एक तो निर्धन होने पर भी बड़ी कामनाएं करना और दूसरा सामर्थ्य न होने पर भी क्रोध करना।

—**सूक्तिनिधि** से

समर्पित शिष्य : दक्ष शिल्पकार

❑ मुनि रमेशकुमार

❑

भारतीय संस्कृति में धर्म-संवाहकों की उज्ज्वल परंपरा रही है। धर्म की महत्ता को बनाए रखने के साथ-साथ ज्ञान संपदा को सुरक्षित रखने व संवर्द्धित करने के लिए धर्मनायक के हाथों से ही सुयोग्य शिष्यों का चयन किया जाता रहा है। गुरु-धर्म को सुरक्षित रखने, परंपराओं को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाने हेतु अपने उत्तराधिकारी के रूप में मनोनयन हमारी आर्ष परंपरा रही है। गुरु-शिष्य का संबंध मात्र दो व्यक्तियों का न होकर द्वैत में अद्वैत का होता है। भारतीय धर्म और संस्कृति की मूल संवेदना यही है।

जैन परंपरा में धर्म का प्रवर्तन तीर्थंकरों द्वारा हुआ है। वे सूर्य के समान तेजस्वी, चंद्रवत निर्मल एवं सागर सदृश गंभीर होते हैं। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने स्वयं के संघ में 11 गणधर, 9 गण एवं 7 पदों के माध्यम से व्यवस्थाएं प्रदान की थीं। गणवृद्धि, शिक्षा-दीक्षा आदि में सातों पदों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आचार्य द्वारा गण-संचालन, उपाध्याय द्वादशांगी के प्रशिक्षण के साथ अर्थ की वाचना भी दी जाती थी। स्थविर संतों को संयम में स्थिरीकरण करने का कार्य स्थविर की महती देन हुआ करती थी। गणी श्रमणों के छोटे-छोटे समूहों का कुशल नेतृत्व एवं गणधर श्रमणों की दिनचर्या का विशेष ध्यान रखते थे। गणाच्छेदक संघ की अंतरंग व्यवस्था से शासन की प्रभावना करते थे। तीर्थंकरों की उसी पुष्ट परंपरा के प्रतिनिधि वर्तमान के आचार्य कहे जा सकते हैं। वे जिनेश्वरदेव के शासन की प्रभावना में योगभूत बनते हैं।

जैनाचार्यों की विशिष्ट क्षमताओं व उस पवित्र ज्ञानराशि की अभिवृद्धि में समर्पित शिष्यों का विशेष योगदान रहा है। आचार्यों को योग्य शिल्पकारों के रूप में उपमित किया जा सकता है, जो सुपात्र शिष्यों को नव्य-भव्य प्रतिभा का स्वरूप प्रदान करते हैं। आचार्य के कंधे पर यह विशेष उत्तरदायित्व होता है कि वे अपने परवर्ती उत्तराधिकारी की नियुक्ति करें। यह निर्णय गुरु-रूप आचार्यों के जीवन की कसौटी का क्षण होता है। एक पिता का यह दायित्व होता है कि वह अपने पुत्रों को सही व समुचित, समयानुसार व्यवस्था दे। पिता के इस दायित्व के निर्वहन के अभाव में पुत्रों के मध्य परस्पर प्रेम, सौहार्द व औदार्यपूर्ण व्यवहार की कल्पना ही दुष्कर है। ठीक इसी प्रकार योग्यतम शिष्यों का चयन कर के संघ को निश्चिंत बनाने का उत्तरदायित्व निभाने वाली ऐसी पिता-तुल्य भूमिका आचार्य की होती है। तेरापंथ

‘कहना होगा, तेरापंथ धर्मसंघ का अहोभाग्य है—जिसे ऋजुमना, करुणाशील, पाप-भीरु और परमार्थ-चेतना के धनी युवाचार्य महाश्रमण प्राप्त हुए। जिनके सृजनहार गुरुदेव श्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सरीखे महामनीषी हैं। दिल्ली में समायोजित ‘आचार्य महाप्रज्ञ पदाभिषेक समारोह’ में

तेरापंथ की महती युवाचार्य परंपरा को नमन करते हुए

गणाधिपति श्री तुलसी ने एक पत्र महाश्रमणजी को प्रदान किया था। जिसके अनुसार यह भावना व्यक्त की गई कि—महाश्रमण मुनि मुदितकुमार का आचार्य महाप्रज्ञ के गण-संचालन के कार्य में सतत सहयोग रहे तथा वे स्वयं भी गण-संचालन की योग्यता विकसित करें।’

में यह परंपरा इस संघ की स्थापना से ही बड़ी ठोस और अतुलनीय रही है। अपने शिष्य समुदाय का तीक्ष्ण निरीक्षण, सूक्ष्म परीक्षण, अनुवीक्षण द्वारा निरंतर तराश करते रहने के बाद जो योग्यतम होता है, उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने का ही परिणाम है कि आज इस संघ में श्री महाप्रज्ञजी जैसे आचार्य और श्री महाश्रमणजी जैसे युवाचार्य हमें आशीर्वाद हेतु उपलब्ध हैं। आचार्यत्व की ऐसी ही गरिमामय परंपरा का संवाहक रहा है तेरापंथ।

इस धर्मसंघ में आचार्य भिक्षु से प्रारंभ होकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी पर्यंत युवाचार्य-मनोनयन की उज्ज्वल और प्रगतिशील परंपरा रही है। आचार-विचार की शुद्धि को लेकर एक सशक्त आंदोलन के रूप में तेरापंथ का उदय भारतीय धर्म-दर्शन जगत में एक सुखद व विरल घटना कही जा सकती है। भगवान महावीर की परंपरा में प्रभावक आचार्य के रूप में आचार्य भिक्षु से लेकर इस परंपरा का निरंतर निर्वहन हुआ है। समग्रतः युवाचार्य एवं आचार्य तेरापंथ का अभिनव प्रकल्प है जो नेतृत्व की सामर्थ्य के प्रसंग में इस धर्मसंघ को एक विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

यहां यह तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि आचार्य वर्ग द्वारा अपनी पश्चवर्ती शिष्य-पीढ़ी को ज्ञान, दर्शन, चारित्र सदृश उदात्त मूल्यों से संयुक्त कर आगम व तत्त्व-दर्शन में निष्णात बनाने हेतु योग्य एवं समर्थ युवजन को युवाचार्य जैसे चुनौतीपूर्ण एवं मर्यादित पद के वरण का अवसर दिया जाता रहा है। मुनि भारमलजी ऐसे समर्थ शिष्यों में से थे जो आचार्य भिक्षु द्वारा धर्मसंघ में दीक्षित किए गए। वि. सं. 1832, मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी के दिन युवाचार्य के रूप में भारमलजी की प्रतिष्ठा के साथ-साथ आचार्य भिक्षु ने जिन मर्यादाओं का निर्माण किया, आचार्यों के करणीय दायित्वों का रेखांकन किया एवं संघ का सुव्यवस्थापन किया—वे ही प्रतिफल-स्वरूप इस धर्मसंघ की विश्वव्यापी पहचान का कारण बने। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उसी उत्कृष्ट, उदात्त एवं ओजस्वी परंपरा के जाज्वल्यमान प्रकाशपुंज कहे जा सकते हैं और श्री महाश्रमणजी उसी परंपरा के ओजस्वी प्रचेता।

युवाचार्य महाश्रमण के तेरापंथ धर्मसंघ में 'केंद्र-व्यक्तित्व' के रूप में उभरने की बड़ी ही पुष्ट एवं उर्वर पृष्ठभूमि रही है। तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य सर्व-शक्तिमान एवं अधिकार-संपन्न होते हैं। समस्त धार्मिक चिंतन के अंतिम प्रवक्ता निर्णायक वे ही होते हैं। भावी व्यवस्थाओं के वे नियामक होते हैं एवं प्रत्यक्ष या परोक्ष पद्धति से आचार्य पद के उत्तराधिकारी की नियुक्ति करते हैं। नीर-क्षीर विवेक एवं उच्च कोटि की मनीषा से संपन्न, संस्कारों से

मनोनयन के उज्ज्वल क्षण : तत्समय की झलक

अहिंसा और अनेकांत के प्रतीक भगवान ऋषभ, पार्श्व और महावीर की अभिवंदना करते हुए श्रद्धेय आचार्य महाप्रज्ञजी ने इस ऐतिहासिक अवसर पर अनुशासन और मर्यादा को प्रणाम कर आचार्य भिक्षु और जयाचार्य की स्मृति की। विकास के मंत्रदाता अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी की अभ्यर्थना के पश्चात् विकासपुरुष आचार्य तुलसी के प्रति अपनी अशेष श्रद्धा समर्पित की।

'हमारे यहां जो मनोनयन होता है, वह अंतर से प्रकट होता है, बाहर से थोपा नहीं जाता। इसीलिए सत्ता-संघर्ष के युग में यह एक उदाहरण है। हम आधुनिक युग के तौर-तरीकों और प्रक्रिया से परिचित होते हुए भी प्राचीनता को अधिक महत्व देना चाहते हैं, क्योंकि पूज्य गुरुदेव ने हमें प्राचीनता में नवीनता का समन्वय करना सिखाया है। आचार्य भिक्षु से लेकर अब तक की हमारी युवाचार्य-मनोनयन की परंपरा के दो प्रकार रहे हैं। एक—गुप्त रूप में आचार्य उत्तराधिकारी का पत्र लिखकर अपने पूठे में रख देते हैं, जो समय पर या अपेक्षा होने पर खोला जाता है। दूसरा उपक्रम है—आचार्य साक्षात् रूप में अपने उत्तराधिकारी के नाम की घोषणा करते हैं और स्वयं की ओढ़ी 'पछेवड़ी' उन्हें प्रदान करते हैं। मैं आज इन दोनों परंपराओं का एक साथ निर्वाह करूंगा।'

'दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि तेरापंथ के इतिहास में आज सर्वाधिक उम्र में अपना युवाचार्य घोषित कर रहा हूं। आचार्य भारीमाल जब 74 वर्ष के थे तब रायचंदजी को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। श्रद्धेय गुरुदेव तुलसी ने अपने 64वें वर्ष में मुझे युवाचार्य पद दिया। आज मैं 78वें वर्ष में चल रहा हूं। तेरापंथ के आचार्य का सबसे महत्वपूर्ण दायित्व होता है अपने योग्य उत्तराधिकारी का चयन करना। मैं आज वही महत्वपूर्ण कार्य करने जा रहा हूं।'

•

'मेरे सामने अनेक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—'युवाचार्य कौन होगा?' मैं स्पष्ट करना चाहता हूं कि साधु- →

संपुष्ट व्यक्तित्व ही ऐसा उच्च पद प्राप्त कर सकता है और आशीष प्राप्त श्री महाश्रमण के व्यक्तित्व में अनुस्यूत संस्कारों में तेरापंथ की उक्त परंपराओं को देखा जा सकता है। आचार्य भिक्षु ने न्याय, संविभाग एवं समभाव की अभिवृद्धि हेतु जिन मर्यादाओं का प्रवर्तन किया और उन्हें समयानुसार परिवर्तन व संशोधन करने के अधिकार आचार्य को देकर उनके व्यक्तित्व के सुदृढ़ीकरण, अनावश्यक विघटन की संभावना से बचते हुए चुनौती के स्वीकार के साथ संघ में अनुशासन की परंपरा को संजीवित बनाए रखा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी और उनके द्वारा प्रतिष्ठापित महाश्रमणजी को इस प्रसंग में आचार्य भिक्षु की अवधारणाओं, चिंतन, दृष्टिकोण एवं कार्यशैली का एक प्रतिरूप या प्रादर्श कहा जा सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के नेतृत्वशील व्यक्तित्व के प्रति नमन करने का सबसे श्रेष्ठ तरीका यह होगा कि उनके बहुश्रुत व्यक्तित्व द्वारा बहुत सोच-समझ एवं वैचारिक मंथन करने उपरांत जो उनका कृतित्व है—उसे प्रेरणा के रूप में देखा जाए। सुधी तेरापंथ समाज को यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह कृतित्व युवाचार्य महाश्रमणजी हैं।

15 जुलाई, 1997, (वि. सं. 2054, आषाढ़ शुक्ला 10) को गंगाशहर स्थित विशाल तेरापंथ भवन में धर्मसभा के मध्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की वह घोषणा एक ऐतिहासिक क्षण कही जा सकती है, जब उन्होंने अपने भावी उत्तराधिकारी तथा अपने अन्य कार्यों को जन-जन तक पहुंचाने वाले चेतना के समर्थ प्रतीक युवाचार्य के पदस्थापन का संकेत किया था, जिसकी घोषणा का महनीय क्षण आया 14 सितंबर, 1997 (सं. 2054, भाद्रपद शुक्ला द्वादशी) को जब चौपड़ा उच्च माध्यमिक विद्यालय के विशाल पांडाल में जयघोष के मध्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के तेज प्रभापुंजयुक्त मुखारविंद से मुनि मुदितकुमार का नामोच्चार हुआ। गणाधिपति श्री तुलसी के साथ अतीत में हुए अंतरंग चिंतन और निर्णय के इतिहास का जिक्र किया तथा साक्षी-पत्र का वाचनकर सुनाया गया और मुनि मुदितकुमार को सस्नेह नियुक्ति पत्र प्रदान कर दिया। आचार्यश्री ने अमल-धवल श्वेत पछेवड़ी पहले स्वयं धारण की, फिर मुनि मुदित को स्वयं के कर-कमलों से धराई। नए युवाचार्य का नामकरण भी तत्क्षण किया गया—'महाश्रमण'। आचार्यश्री का वात्सल्य-पूरित हस्त मस्तिष्क पर स्पर्श पाते ही मानो महाश्रमणजी में प्रज्ञा का आलोक प्रस्फुटित-विकसित हो गया।

स्थिरता, एकाग्रता व जागरूकता के गुण तो आपको नैसर्गिक रूप से ही प्राप्त थे।

साध्वियों में से होगा और वह व्यक्ति होगा, जिसने युवाचार्य के योग्य अर्हताएं प्राप्त की हैं। तेरापंथ की गुरु-परंपरा को अविच्छिन्न और अखंड रखने के लिए आवश्यक है कि युवाचार्य निर्दिष्ट बिंदुओं पर विशेष योग्यता प्राप्त करे। युवाचार्य का कसौटी-बिंदु है—आचारनिष्ठा, अध्यात्मनिष्ठा और अनुशासननिष्ठा, अध्ययन में संलग्नता, श्रुतसंपन्नता, आचार्य परंपरा के प्रति पूर्ण समर्पण, विनय और विनम्रता आदि-आदि। संघ में ऐसे अनेक व्यक्ति हो सकते हैं, पर युवाचार्य तो एक होगा।'

•

'घड़ी ने ग्यारह बजकर इक्कीस मिनट की सूचना दी और गंभीर ओजस्वी वाणी में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इतिहास का सृजन करते हुए कहा—'आओ, मुनि मुदितजी!' ये शब्द सुनते ही जय-निनाद से धरती-अंबर गूंज उठे। खुशियों के मंगल शंख बजने लगे और समूचा पंडाल प्रसन्नता से झूम उठा।'

•

'अभी-अभी 10 सितंबर, 1997 को युवाचार्य-नियुक्ति के संदर्भ में एक पत्र और लिखा। वह इस प्रकार है—

श्री भिक्षु भारीमाल, ऋषिराय, जयाचार्य, माणक, मघवा, डालचंद, कालू, तुलसी, गुरुभ्यो नमः।'

'मैं तेरापंथ के दशम आचार्य पद का निर्वाह कर रहा हूं। अब मैं अनुभव कर रहा हूं, मुझे आचार्य के सर्वोत्तम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य का अनुपालन करना चाहिए। तेरापंथ धर्मसंघ, भिक्षु शासन की गुरु परंपरा को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए। मैं अपने परम आराध्य गुरुदेव तुलसी के साक्ष्य से मुनि मुदितकुमार को अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त करता हूं।'

'मुझे विश्वास है कि अध्यात्मनिष्ठा, अनुशासन, विनम्रता और आचारनिष्ठा के साथ भिक्षु शासन की गरिमा को बढ़ाता रहेगा।'

—आचार्य महाप्रज्ञ

•

'नवनिर्वाचित युवाचार्य महाश्रमण धीर, शांत और गंभीर

→

हिंदी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी भाषाओं का आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया। जैन आगम, तत्त्वज्ञान, योग, दर्शन आदि में निष्णात ही नहीं बने, बल्कि गुरुदेव के हृदय में इसी कारण से एक विशिष्ट स्थान भी निर्मित किया। समर्पण, विनम्रता, आचार-कुशलता, संघनिष्ठा आदि अनेक गुणों से संपन्न आपका जीवन जैसे किसी वीतरागी योगी की जिजीविषा से ही युक्त हो।

मुनि मुदितकुमारजी की महती पहचान थी समय के सार्थक उपयोग की, स्थितप्रज्ञता की। इन पंक्तियों के लेखक ने मुनि अवस्था में आपश्री को अनेक बार देखा है। गुरुदेव श्री तुलसी के साथ आप सेवा में गोचरी, पंचमी समिति के लिए पधारते तब उस स्वल्प समय में भी एकाग्रता के साथ आप स्वाध्याय करते। गुरुसेवा व स्वाध्याय का ऐसा क्रम आपका चलता ही रहता था। स्थितप्रज्ञता आपके व्यक्तित्व का सदैव ही एक लक्षण रहा है। सहज सरलता और निस्पृहता के साथ कार्यक्षमता आदि अर्हताओं का अंकन करते हुए गणाधिपति श्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने वि. सं. 2046, भाद्र शुक्ला नवमी को 'महाश्रमण' नाम से एक नए पद का सृजन आपके लिए किया। नए दायित्वबोध से युक्त यह पद महाप्रज्ञजी के कार्यों में सहयोगी की दृष्टि से सृजित किया गया था। तब आप महाश्रमण मुनि मुदितकुमार कहलाने लगे। यह नामकरण एक युवा संत की सतत तपश्चर्या का प्रमाण कहा जा सकता है।

मुद्रा में निश्चल खड़े अपने गुरु के एक-एक वाक्य को जैसे पी रहे थे और अपने स्मृतिकोष्ठ में सहेजकर रखते जैसे प्रतीत हो रहे थे। ज्यों ही युवाचार्य महाश्रमण ने संपूर्ण विनम्रता के साथ अपने आचार्यवर को वंदना की, आचार्यवर ने अपना वात्सल्यपूरित हाथ उनके मस्तिष्क पर रखा, लगा गुरु अपनी संपूर्ण ऊर्जा अपने शिष्य में संक्रांत कर रहे हैं।'

•

'श्रद्धेय आचार्यवर ने इस अवसर पर युवाचार्यश्री को संबोधित करते हुए कहा—'तुम जिस कार्यक्षेत्र में आए हो, मैंने तुम्हें जिस क्षेत्र में चुना है, मुझे पूरा विश्वास है कि तुम पूरी शक्ति व निष्ठा के साथ भिक्षुसंघ की सेवा में अपने कण-कण का नियोजन करोगे तथा हमारी गौरवशाली परंपरा को आगे बढ़ाने में, उसकी क्रियान्विति के लिए सतत सचेष्ट रहोगे। हमारा धर्मसंघ विनय और अनुशासन के आधार पर आगे बढ़ता रहा है। इस अवसर पर मैं देशवासियों से कहना चाहता हूं कि मूल्यहीनता की दिशा में बढ़ते हुए कदमों की रोकथाम के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम पर ध्यान दें। वे पांच सूत्र हैं—अनुशासन, मर्यादा, व्यवस्था, संगठन और पारस्परिक सौहार्द। दूसरी बात, इन दिनों देश में अवांछनीय घटनाएं घट रही हैं, उस विषय में भी सावधानी अपेक्षित है।'

•

'नवनिर्वाचित युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने कहा—'मैं सर्वप्रथम सप्तमाचार्य डालगणी को श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं, जिनकी आज पुण्यतिथि है। आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु आस्था-केंद्र होने के साथ-साथ मेरे आकर्षण के केंद्र रहे हैं। जब-जब मैं श्रद्धा के साथ आचार्य भिक्षु का स्मरण करता हूं, मुझे सदा समाधान का आलोक मिलता रहा है। हमारे धर्मसंघ में अब तक सात युवाचार्य हुए हैं। उन सबके संस्मरण मुझे सदा प्रेरणा और दिशादर्शन देते रहेंगे। मैं आज उन सबका विशेष स्मरण करता हूं। गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी का, जिनके चरणों में निकट बैठने का, सेवा करने का, वत्सलता पाने और कभी-कभी उलाहना पाने का मौका भी मुझे मिला है। महामना पूज्य गुरुदेव ने मेरे पर इतना विश्वास किया, जिसकी कल्पना मात्र से रोमांच होता है। वे मेरे भाग्यविधाता थे, जीवन-निर्माता →

इससे पूर्व संयम-जीवन में गुरु-दृष्टि की आराधना मानते हुए वि. सं. 2041, ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को लाडनूं में आचार्यश्री तुलसी ने इन्हें पंचमी समिति हेतु पात्र-संवहन कार्य में नियुक्त किया। आचार्यवर की निकटता से सेवा का अनायास ही आपको अवसर मिल गया। उसी वर्ष जोधपुर में प्रवचन से पूर्व उपदेश देने के कार्य में भी आप नियोजित हुए और वि. सं. 2042, उदयपुर मर्यादा-महोत्सव पर युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के अंतरंग सहयोगी के रूप में भी नियुक्त हो गए। वि. सं. 2043, वैशाख शुक्ला चतुर्थी को ब्यावर में आचार्यवर ने आपको साझ बनाया।

कहना होगा, तेरापंथ धर्मसंघ का अहोभाग्य है—जिसे ऋजुमना, करुणाशील, पाप-भीरु और परमार्थ-चेतना के धनी युवाचार्य महाश्रमण प्राप्त हुए। जिनके सृजनहार गुरुदेव श्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी-सरीखे महामनीषी हैं। दिल्ली में समायोजित 'आचार्य महाप्रज्ञ पदाभिषेक समारोह' में गणाधिपति श्री तुलसी ने एक पत्र महाश्रमणजी को प्रदान किया था। जिसके अनुसार यह

भावना व्यक्त की गई कि— महाश्रमण मुनि मुदितकुमार का आचार्य महाप्रज्ञ के गण-संचालन के कार्य में सतत सहयोग रहे तथा वे स्वयं भी गण-संचालन की योग्यता विकसित करें। उसी समय गुरुदेव श्री तुलसी ने यह भावना भी व्यक्त कर दी कि इसके लिए जो अवशेष करणीय है, वह उचित समय पर आचार्य महाप्रज्ञ करेंगे। गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा लिखित वह दस्तावेज तेरापंथ के शुभ भविष्य का मंगल संकेत था।

शांत, धीर-गंभीर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी से संघ, समाज व देश को बहुत अपेक्षाएं हैं। संघीय दृष्टि से सारणा-वारणा करना आपका अधिकार है। इसी से संघ का सुदृढ़ीकरण, अनुशासन व व्यवस्थाएं सुचारू रूप से चलती हैं। संघ के प्रत्येक सदस्य को अपने संयम-जीवन में आपके द्वारा चित्त-समाधि ही नहीं, बल्कि आत्मतत्त्व प्राप्ति का वह मार्ग भी मिले और संघ के प्रत्येक सदस्य में आध्यात्मिकता की ठोस झलक नजर आए। आपश्री द्वारा संपन्न ऐसे कार्यों से निस्संदेह तेरापंथ अध्यात्म का पर्याय बन सकेगा। आगम-संपादन, संस्कृत, प्राकृत-भाषा के साथ हिंदी-अंग्रेजी के अनेक विषयों के विशेषज्ञों का निर्माण हो और अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण के अभियानों की तीव्र गति-प्रगति के साथ प्रचार-प्रसार हो—यह आपश्री से अपेक्षा है। गणाधिपति श्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने संघ, समाज व राष्ट्र में जो ख्याति अर्जित की है, वैसी ही ख्यातिनाम परंपरा की अपेक्षा हमें महाश्रमणजी से भी है।

युवाचार्य महाश्रमणजी की कल्पना में तेरापंथ संघ व मानव समाज का एकमेक रूप है। जिसके लिए वे अहर्निश अपने स्वास्थ्य का ध्यान किए बिना निरंतर परिश्रम और यात्रा-प्रवास करते रहते हैं। विगत समय मुंबई प्रवास में पनवेल व ऊरण आदि कुछ उपनगर पूज्यवर के श्रीचरणों से वंचित हो रहे थे। करुणा-हृदय महाश्रमणजी तब भीषण ग्रीष्म ऋतु में प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी वहां पधारे, क्योंकि वहां प्रवासित-निवासित जन-जन आचार्यवर की अमृतवाणी व आशीर्वाद से वंचित रह गए थे। ऐसी श्रमशीलता व समर्पण से ही आपश्री में विद्यमान नेतृत्व-क्षमता का परिचय जन-जन को मिलता है। राष्ट्र के राजनेताओं, प्रबुद्धजनों एवं धर्माचार्यों द्वारा सर्वत्र प्रशंसित अहिंसा-यात्रा की सफलता का कारण भी यही नेतृत्व-क्षमता है। मौलिक चिंतन एवं निर्णय से अभिसिंचित इस यात्रा का फलित धर्मसंघ को अपने उद्देश्य की संपूर्ति में अधिक सशक्त बनाएगा, ऐसा विश्वास है।

सकल संघ की मंगलकामना है कि वीर-गौतम, भिक्षु-भारमल, जय-मघवा, तुलसी और महाप्रज्ञ सदृश महाप्रज्ञ व महाश्रमण के मध्य कृति व कृती का अंतःसंबंध बना रहे एवं युवाचार्य के रूप में आपश्री का मनोनयन युग में एक अभिनव, सामयिक, व्यापक, रचनात्मक आंदोलन के प्रवर्तन का कारण भी बने। ❖

थे। एक बार मैं और साध्वी-प्रमुखाश्री गुरुदेव के उपपात में बैठे थे, उन्होंने प्रसंगोपात कहा था—'मैं ऊपर जाकर भी तुम्हारा ध्यान रखूंगा।' गुरुदेव में कितनी महानता थी, वह वाक्य मेरे लिए अत्यधिक मूल्यवान बन रहा है। उनके प्रति आभार-ज्ञापन बहुत छोटी बात है। मैं सदा-सदा उनके उपकारों का ऋणी रहूंगा।'

'आपने आगे कहा—'श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों में बैठने का, ज्ञानार्जन का तथा संघीय कार्यों में संपृक्त रहने का सौभाग्य मुझे उपलब्ध हुआ। आप मेरे धर्मगुरु हैं, विद्यागुरु हैं और सब-कुछ हैं। मैं इस अवसर पर आचार्यवर से निवेदन करना चाहूंगा कि आप मुझे लंबे समय तक ज्ञानाराधना का अवसर देते रहें और वात्सल्य की वर्षा करते रहें। मैं इस अवसर पर अपनी संसारपक्षीया मां की स्मृति करता हूं। मैं आज जो-कुछ भी हूं, उनकी बदौलत हूं।'

•

'मैं अपने-आप के प्रति भी मंगल कामना करता हूं कि सत्य और समर्पण के प्रति मेरे मन में भक्ति का भाव तब तक बना रहे, जब तक कैवल्य को प्राप्त न हो जाऊं। गुरु-दृष्टि की आराधना में सदा तत्पर रहूं। गुरु-दृष्टि के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट भी आए तो उसे भी मैं सहन करता रहूं। मेरी आध्यात्मिकता उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बने और मैं अपने कर्तव्य का पालन निष्ठा के साथ करता रहूं। चतुर्विध धर्मसंघ का वात्सल्य और विनय उपलब्ध होता रहे। कांटों का ताज सुमनों का ताज बने।'

•

'आपने आगे कहा—'महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी के साथ न्यूनाधिक संपर्क बना रहता है। संघीय स्तर में सहचिंतन और विचार-विनिमय का गुरुनिर्देश से मौका मिलता रहा है। आपसे मुझे प्रेरणा मिली है और मातृवत्सलता भी मिली है। भविष्य में भी पूर्ण सहयोग, सहकार, प्रेरणा और वत्सलता मिलती रहे—यही कामना करता हूं।'

❖❖

ज्ञान तो केवल आत्मज्ञान

❑ चतरसिंह मेहता

उपनिषद में एक कथा है। अध्ययन के बाद गुरु के आश्रम से घर लौट रहे श्वेतकेतु को पिता ने दूर से आते देखा। वह अकड़ता हुआ चला आ रहा था, सब-कुछ जानकर जो लौटा था। अठारह शास्त्र, जो उस समय प्रचलित थे, उन सब का ज्ञान लेकर श्वेतकेतु लौट रहा था। पिता ने पूछा—'ऐसा मालूम पड़ता है कि तू सब जानकर आया है।' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया—'निश्चय ही! आप पूछकर देखें, सारे शास्त्र कंठस्थ हैं, परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ हूं।' उसके पिता ने पूछा—'तूने अपने गुरु से यह भी जाना या नहीं कि जिसके जानने से सब-कुछ जान लिया जाता है?' श्वेतकेतु ने कहा—'वह क्या चीज है, जिसे जान लेने से सब-कुछ जान लिया जाता है? मैं तो वही चीजें सीख-जानकर आया हूं जिन्हें जान लेने से केवल उन्हीं को जाना जाता है।' पिता ने कहा—'तू वापस जा। तू शास्त्रों के बोझ से दब गया, परंतु ज्ञान की किरण तेरे जीवन में नहीं फूटी। उसे जानकर आ, जिसे जान लेने के बाद जानने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता।'

गुरु के पास जाकर श्वेतकेतु ने कहा—'पिता ने कहा है कि जो आपने सिखाया, यह तो कुछ भी नहीं है, उसे जानकर आ, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है। वह क्या है?' गुरु ने कहा—'वह तू स्वयं है। तूने पूछा वही मैंने बताया। तूने कभी यह पूछा ही नहीं कि—मैं कौन हूं और जब तक कोई स्वयं को नहीं जान ले, तब तक वह ज्ञान नहीं मिलता जिसे जानने से सब जान लिया जाता है।'

> *यह एक विचित्र बात है कि आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है और मनुष्य आत्म-अज्ञान से भरा हुआ है। महावीर कहते हैं कि कभी उसकी झलक मिलती है, पर मूलतः आत्मा वासना से ढकी हुई है। वासना प्रबल है—वह ज्ञान का साक्षात्कार नहीं होने देती। कृष्ण भी कहते हैं—संसार माया से ढका है, आत्मा अज्ञान से ढकी है, ज्ञान अविद्या से ढका है। ज्ञान सोया हुआ है, इसे जगाया जा सकता है। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध कहलाए, क्योंकि वे जाग गए। महावीर जिनेश्वर कहलाए, क्योंकि उनका जागना जीत बन गया। आत्म-प्रकाश के लिए संकल्प-शक्ति की आवश्यकता है। संकल्प-शक्ति का अर्थ है कि मेरा निर्णायक मैं हूं, दूसरों की राय मेरी आत्मा नहीं बनेगी, चाहे कोई कुछ कहे, मैं अपनी इच्छा से चलूंगा।*

महावीर ने कहा है—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जो एक (आत्मा) को जानता है वह सब (जगत) को जानता है। एक को जान लेने से सब को जान लिया जाता है। सारी दुनिया को जान लें और जो भीतर बैठा है, उससे अपरिचित रह जाएं, तो बाहर की सारी जानकारियां व्यर्थ हैं। सारे शास्त्र पढ़ लें और जो भीतर शास्त्रों को पढ़ने वाला है, वह अनपढ़ा रह जाए तो शास्त्रों का कोई लाभ नहीं है।

भीतरी खोज क्यों

आत्मा की खोज किसलिए? स्व की खोज किसलिए? कोई कहेगा कि कोई कारण हो खोज के लिए—तो करें। कुछ दिखाई पड़े कि धन मिलेगा, यश मिलेगा, पद मिलेगा—तो करें। साधारणतः कोई ऐसा काम करने को राजी नहीं होता, जिसमें कुछ मिलने की उम्मीद न हो। परंतु वास्तविकता तो यह है कि जहां कुछ नहीं

मिलता, वहां सब मिल जाता है। सब पाने की चेष्टा छोड़कर जब मौन व चुप होंगे तब ही उसके दर्शन होते हैं जो भीतर मौजूद है। क्रिया होती है—कुछ पाने के लिए, लेकिन जिसे स्वयं को पाना हो तो सारी क्रियाएं छोड़नी पड़ती हैं। जो स्वयं को पा ले वह सब पा लेता है और किसी को पा लेने का कोई मूल्य नहीं रह जाता। बाहर की कोई खोज सार्थक नहीं होती जब तक भीतर आलोक न हो।

विद्वान व ज्ञानी

लाओत्से ने कहा है—जो दूसरों को जानता है—वह विद्वान और जो स्वयं को जानता है—वह ज्ञानी। दूसरों को जानना तो बहुत आसान है, क्योंकि दूसरों को इंद्रियों के द्वारा जाना जाता है—आंख, कान, हाथ से। ये इंद्रिया स्वयं को जानने के काम नहीं आतीं। स्वयं के संबंध में हम कुछ जानते भी हैं, तो दूसरों के द्वारा ही जानते हैं, दूसरे जो राय रखते हैं—वही-भर हम जानते हैं। सच तो यह है कि दूसरों के द्वारा जो जाना जाता है वह उनके आंख की खबर होती है, जो प्रायः सही नहीं हो पाती। जो दूसरे की जानकारी है—चाहे वह वस्तु, विचार या व्यक्ति की है—वह विद्वत्ता है। विद्वान होना कठिन नहीं है। शास्त्रों से शब्द इकट्ठे किए जा सकते हैं, स्मृति सजाई जा सकती है। बाहर से इकट्ठा किया हुआ यह ज्ञान, बाहर को ही प्रभावित कर सकता है। परंतु ज्ञानी के पास जो ज्ञान है, वह बाहर से न आकर भीतर से आता है। वह तो निर्विचार की स्फुरणा होती है, जहां सब इंद्रियां शांत होती हैं—मन समेत। इससे सुनने वालों की पहचान नहीं होती, अतः उसे वे ठीक से समझ नहीं पाते। संसार में विद्वानों को कोई तकलीफ नहीं हुई, पर ज्ञानियों को जीते-जी बहुत तकलीफें झेलनी पड़ीं—चाहे वे महावीर हों, ईसा हों, मंसूर हों या सुकरात। हम कृष्ण, महावीर, बुद्ध को विद्वान नहीं कह सकते—वे ज्ञानी हैं। ज्ञानी अनुभूति के तल पर जीता है और विद्वान तर्क पर।

ज्ञान की परिभाषा करते हुए ओशो ने कहा है कि एक ज्ञान है जो सीखने से मिलता है और एक ऐसा ज्ञान है जो भूलने से मिलता है। एक ज्ञान है जो दौड़ने से मिलता है और एक ऐसा ज्ञान है जो रुक जाने से मिलता है। एक ज्ञान है जिसे पाने के लिए महती यात्रा करनी पड़ती है और एक ज्ञान है जिसे पाने के लिए केवल अपने भीतर झांक कर देखना काफी है। जो ज्ञान श्रम से मिलता है, वह ज्ञान बाहर का है, आखिरी वर्षों में इसका कोई भी मूल्य नहीं। क्योंकि जो ज्ञान बाहर से पाते हैं, उससे स्वयं को नहीं जान पाएंगे, वह तो अज्ञान को छिपाने का ही उपाय है। जिसे जानने से स्वयं को नहीं जाना जा सके उसे लाओत्से जैसे महान दार्शनिक मनीषी ज्ञान नहीं कहते।

जानने का भ्रम

लाओत्से कहते हैं कि जो दूसरे को जानता है, वह विद्वान है, पंडित है। दूसरे को जानने से दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार किया जा सकता है कि वे प्रभावित हो जाएं। डेल कारनेगी की एक प्रसिद्ध पुस्तक है—हाउ टू विन फ्रेंड्स एंड इन्फ्ल्यूएंस पीपुल' पर ऐसी कोई पुस्तक नहीं है कि 'हाउ टू इन्फ्ल्यूएंस योर सेल्फ' स्वयं को कैसे प्रभावित करें? स्वयं को कैसे जानें? कारण है कि स्वयं को जानने में किसी को कोई रस नहीं है। रस इसलिए नहीं है कि सभी मन में जानते हैं कि स्वयं को तो हम जानते ही हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि हम दूसरों को तो थोड़ा-बहुत जानते भी हों, पर अपने को नहीं के बराबर ही जानते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है कि आदमी के पास देखने के लिए दो आंखें हैं, पर आश्चर्य की बात है कि वे आंखें औरों को देखती हैं, स्वयं को नहीं। मनुष्य की आंखें औरों को देखते हुए स्वयं से गाफिल रहती हैं। जो अपने को ही नहीं जानता वह दूसरों को क्या जान पाएगा। जिसको अपने बारे में ही कोई अनुभूति नहीं होगी तो दूसरों के बारे में जानकारी भी छिछली ही होगी।

भ्रम का दूसरा कारण है कि विश्वविद्यालय के प्रमाणपत्र को ही लोग ज्ञान समझने लगे हैं। इसलिए असली ज्ञान के खोज की कोई जरूरत ही नहीं मालूम पड़ती। ज्ञान तो सिर्फ एक है—स्वयं का ज्ञान, बाकी तो सब सूचनाएं हैं। इस बाहरी जानकारी को ही लाओत्से विद्वत्ता कहते हैं। विद्वान भी ज्ञान तक तभी पहुंच सकता है, जबकि वह अज्ञानी होने का साहस जुटाए। इसीलिए तो ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। तयो भूय इव ते तमो विद्यायां रताः। अर्थात् जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं। अज्ञानी तो अंधकार में है ही, परंतु जो अपने को ज्ञानी समझ लेते हैं—वे उससे भी ज्यादा घोर अंधकार में हैं। बात बड़ी विचित्र है, पर है सत्य। ज्ञानी होने का भ्रम अज्ञान को पालता है।

आत्मतत्त्व—प्यास नहीं

गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिए कोई (महापुरुष) ही इस आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई ही इसके तत्त्व को

कहता है और कोई ही सुनता है व कोई सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जानता। कृष्ण कहते हैं कि इस आत्मा की दिशा में किसी भी मार्ग से गति करना एक आश्चर्य है। आदमी बहुत मुश्किल से स्वयं को जानने के लिए आतुर व पिपासु होता है, यह जगत का एक बड़ा आश्चर्य है। होना तो यह चाहिए कि सभी के लिए एक मूलभूत प्रश्न हो कि वह यह जाने कि—मैं कौन हूं, क्या हूं, क्यों हूं, आखिर क्या चाहता हूं? पर कोई अपने से पूछता ही नहीं। पूछे तब जबकि आत्म-ज्ञान किसी की आवश्यकता बने, प्यास बने!

मैं कौन हूं

रामतीर्थ अमेरिका और यूरोप से घूमकर लौटे। भारत में एक छोटी-सी रियासत के मेहमान हुए। वहां के राजा ने सुबह आकर उनसे पूछा कि मैं ईश्वर को जानना चाहता हूं, अतः कुछ बताएं। रामतीर्थ ने कहा कि ईश्वर को जानना चाहते हो या ईश्वर से मिलना चाहते हो? राजा ने कहा कि मिला ही दें, तब तो बड़ी कृपा होगी। रामतीर्थ ने फिर कहा—अभी मिलना चाहते हो या थोड़ी देर के बाद? राजा थोड़ा हैरान हुआ, पर कहा—अभी मिला दें। रामतीर्थ ने कहा कि मैं जरा उनको खबर कर दूं। राजा और हैरान हुआ। उसने कहा कि मैं तो परमात्मा से मिलने की बात कर रहा हूं, आप कुछ और तो नहीं समझ गए? रामतीर्थ ने कहा कि मैं भी परमात्मा की ही बात कर रहा हूं, जरा एक कागज पर अपना परिचय लिख दें। राजा ने कागज पर अपना नाम लिखा। लिखा कि अमुक रियासत का मालिक हूं, मेरा फलां मकान है—आदि-आदि। सारी बातें लिखकर रामतीर्थ को दे दीं। रामतीर्थ पढ़कर कुछ हंसे। उन्होंने कहा कि ऐसी झूठी बातें लेकर भगवान से मिलना नहीं हो सकता। राजा ने कहा कि झूठ बिल्कुल भी नहीं है। यही मेरा नाम है, मैं राजा हूं, यही मेरी रियासत है, यही मेरा भवन है।

रामतीर्थ ने कहा, 'इस भवन में तुम कितने दिन से हो? इस भवन में तुमसे पहले भी कोई था? तुम अपने साथ भवन को ले जाओगे कि तुम्हारे पीछे और कोई इस भवन में रहेगा? तुम मालिक कैसे हो सकते हो?' राजा कुछ दुविधा में पड़ गया। रामतीर्थ ने कहा, 'यह सराय है, और लोग रह रहे हैं, और लोग भी रहेंगे, अतः तुम्हारा मकान है, इस भ्रम में मत रहना।' राजा ने कहा, 'मकान की बात छोड़ें, लेकिन मैं राजा तो हूं। यह नाम तो मेरा है।' रामतीर्थ ने कहा, 'यदि तुम्हारे पिता तुम्हारा दूसरा नाम रख देते तो क्या तुम दूसरे आदमी हो जाते। या आज तुम्हारा नाम बदल दें तो क्या तुम दूसरे आदमी हो जाओगे? नाम बदलने से भीतर क्या बदलेगा?' राजा ने कहा, 'नाम बदलेगा तो भी मैं तो जो हूं, वही रहूंगा।' रामतीर्थ ने कहा कि, 'फिर नाम तुम्हारा हिस्सा नहीं है। तुम कहते हो—मैं राजा हूं, पर यदि कल तुम्हारा राज्य छिन जाए और तुम भिखारी हो जाओ तो बाहर की चीजें बदल जाएंगी, परंतु तुम्हारे भीतर क्या बदलेगा—तुम तो वही रहोगे।' राजा ने कहा, 'बात तो ठीक है, बदलाव तो बाहर होगा, मैं तो वही रहूंगा।' रामतीर्थ ने कहा कि, 'वह जो भीतर है और बाहरी बदलाव से नहीं बदलता, उसका यदि तुम परिचय दो तो परमात्मा से मिलाऊं। तुम कौन हो, इस बाबत बात होनी चाहिए।' राजा चुप हो गया। 'अगर यह शर्त है तो', उसने कहा कि, 'बहुत कठिन है, मैं तो अपने को जानता ही नहीं।'

नाम परिचित है। कितना धन है, वह भी परिचित है। किसका भाई हूं, किसका लड़का हूं, किसका पति/पत्नी हूं, किस पद पर हूं, वह भी परिचित है। लेकिन सारा परिचय शरीर का परिचय है। शरीर पर ही ठहर गए हैं। शरीर की वासनाएं, शरीर की दौड़, शरीर की आकांक्षा, उसी में सारा जीवन निकल जाता है। उसे तो देख ही नहीं पाते जो शरीर का मालिक था, जो शरीर में बसा था। शरीर तो पांच तत्त्वों—मिट्टी, जल, आकाश, वायु व अग्नि का जोड़ है, जो समाप्त हो जाएगा। कहते हैं—जिंदगी मेरी है और मुझे बिना पूछे भेज दिया गया है। कहते हैं—जिंदगी मेरी है और बिना पूछे विदा कर दिया जाएगा। श्वास चलती है, कौन चलाता है? जब नहीं आएगी तो एक श्वास भी चाहकर नहीं ले सकेंगे। जो भी किसी से संबंधित है, वह मैं नहीं हो सकता। तो फिर मैं कौन हूं, यह आत्म-ज्ञान कैसे हो?

मैं कौन हूं? यह जानने के लिए यह प्रक्रिया उपयुक्त होगी कि पहले यह जानें कि मैं कौन नहीं हूं। यह आसान प्रक्रिया है और गलत के साथ संबंध तोड़ते-तोड़ते एक दिन ठीक का पता चल जाता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार असार को पहचान लेना, सार को पहचान लेने की पहली व्यवस्था है। कोई बता दे कि मैं कौन हूं और उसे स्मृति में लेकर अभिव्यक्त कर दें या कहीं से पढ़कर बता दें तो उससे आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता। यह तो स्वयं भीतर खुदाई करनी पड़ेगी। मिट्टी, कंकड़, पत्थर, चट्टानें खुद ही हटानी पड़ेंगी, तभी शुद्ध पानी, शुद्ध ज्ञान का झरना फूटेगा और तभी प्यास बुझेगी। स्वयं की भीतरी यात्रा ही एकमात्र उपाय है।

आत्मज्ञान के सूत्र

यह एक विचित्र बात है कि आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है और मनुष्य आत्म-अज्ञान से भरा हुआ है। महावीर कहते हैं कि कभी उसकी झलक मिलती है, पर मूलतः आत्मा वासना

से ढकी हुई है। वासना प्रबल है—वह ज्ञान का साक्षात्कार नहीं होने देती। कृष्ण भी कहते हैं—संसार माया से ढका है, आत्मा अज्ञान से ढकी है, ज्ञान अविद्या से ढका है। ज्ञान सोया हुआ है, इसे जगाया जा सकता है। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध कहलाए, क्योंकि वे जाग गए। महावीर जिनेश्वर कहलाए, क्योंकि उनका जागना जीत बन गया। आत्म-प्रकाश के लिए संकल्प-शक्ति की आवश्यकता है। संकल्प-शक्ति का अर्थ है कि मेरा निर्णायक मैं हूं, दूसरों की राय मेरी आत्मा नहीं बनेगी, चाहे कोई कुछ कहे, मैं अपनी इच्छा से चलूंगा। संकल्प के साथ साहस का भी अवलंबन चाहिए। साहस का अर्थ है, अज्ञात में छलांग लगाने का साहस, अकेले होने की हिम्मत, क्योंकि भीतर तो अकेले ही जाना पड़ेगा। तीसरा सूत्र है, संयम। जीवन की ऊर्जा सीमित है। शक्ति व्यर्थ के कार्यों में न लगे—क्रोध, घृणा, मोह आदि के व्यर्थ कार्यों में न लगे, तो शुभ कार्यों के लिए शक्ति बचे। इससे जब आत्म-अज्ञान कटे तो जो शेष रह जाता है, वह आत्म-ज्ञान की ही ज्योति होगी।

अंतर्यात्रा—कुछ विधियां

अंतर्यात्रा के लिए कई विधियां सुझाई गई हैं, जिनमें योग व ध्यान प्रमुख हैं। योग ने ऐसे साधन खोजे हैं जो इंद्रियों को अंतर्मुखी करने में अद्‌भुत रूप से सहयोगी हो सकते हैं। इस तरह की मुद्राएं खोजी हैं जो इंद्रियों को अंतर्मुखी करने में सहयोगी हो सकती हैं। बैठने के ऐसे ढंग खोजे हैं जो शरीर के विशेष केंद्रों पर दबाव डालते हैं और उस दबाव का प्रभाव विशेष इंद्रियों को शिथिल करना होता है। ऐसी ध्वनियां आविष्कृत की हैं जो शरीर में विशेष ऊर्जा का संचार करती हैं और भीतर की यात्रा में सहयोगी होती हैं।

ध्यान की अचूक विधियां हैं—बाहर से हटकर भीतर के संसार में प्रवेश की, बाहर भागती ऊर्जा को घर बुलाने की, भीड़ से हटकर एकांत में होने की। महावीर ने 'समणसुतं' में कहा है कि जैसे—मनुष्य शरीर में सिर और वृक्ष में उसकी जड़ उत्कृष्ट या सूक्ष्म है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है। ध्यान से अपने प्रति सजगता आती है और धीरे-धीरे निर्विचार की ओर बढ़ना संभव हो जाता है। ध्यान की बौद्ध विधि 'विपश्यना' और जैन विधि 'प्रेक्षाध्यान' है। शंकर ने तंत्रसूत्र में ध्यान की कई विधियां बताई हैं। ये सभी विधियां अंतर्यात्रा में, आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में, आत्म-दर्शन करने में सहायक होती हैं।

स्वस्थ-स्व में स्थित

चिकित्सा शास्त्र स्वास्थ्य की परिभाषा करता है—जब कोई बीमारी न हो तो स्वस्थ। यह नकारात्मक परिभाषा है। अंग्रेजी का हेल्थ शब्द स्वास्थ्य का पर्यायवाची नहीं है। हेल्थ तो हीलिंग से बना है, बीमारी से संबंधित है। भारतीय शब्द 'स्वास्थ्य' अद्‌भुत है। 'स्वास्थ्य' का अर्थ है—स्व में स्थित होना। स्व में स्थित वही हो सकता है, जिसे 'स्व' का ज्ञान हो, आत्मतत्त्व का ज्ञान हो। मनुष्य का शरीर और मनुष्य की आत्मा एक ही वस्तु के दो छोर हैं। कोई अलग-अलग चीज नहीं हैं। मनुष्य 'साइको-सोमेटिक' अर्थात् मनस-शरीर है। यों भी कहा जा सकता है कि मनुष्य की आत्मा का हिस्सा, जो इंद्रियों की पकड़ में आ जाता है व दृश्यमान है वह शरीर और शरीर का जो हिस्सा अदृश्य है, इंद्रियों की पकड़ के बाहर है वह आत्मा है। बीमारी कहीं से भी आरंभ हो सकती है, जा सकती है—दृश्य शरीर से आरंभ होकर भीतर आत्मा तक या फिर आत्मा से आरंभ होकर बाहरी शरीर तक। दृश्यमान शरीर की बीमारी तो चिकित्सक ठीक कर सकता है, परंतु आत्मा की बीमारी का चिकित्सा-शास्त्र के पास कोई इलाज नहीं है। ईश्वर ने पशु को पूरा पशु पैदा किया है, उसके स्व-विकास की कोई संभावना नहीं है। पर मनुष्य को पैदा किया और उसे अधूरा रखा व पूरा बनने के लिए स्वयं विकास करने की स्वतंत्रता रखी। इसलिए एक तरह से मनुष्य होना ही बीमारी है, अधूरापन है और इसका इलाज है—स्व-ज्ञान, ताकि वह बीमारी मिटे।

आत्म-ज्ञान की विधियां दृश्य-शरीर और अदृश्य-शरीर अर्थात् शरीर व आत्मा दोनों पर काम करती हैं। योग मनुष्य को ऊपर से स्वस्थ करने की चेष्टा करता है और ध्यान मनुष्य को भीतर से स्वस्थ रखने की चेष्टा करता है। दोनों एक-दूसरे से संग्रथित है। हम जानते हैं कि शरीर की कोई समस्या नहीं हो तो भी आदमी बेचैन रह सकता है और बेचैन हो तो शरीर में समस्या उत्पन्न हो सकती है। दोनों का संयुक्त इलाज है—'स्व' की समझ। आत्म-ज्ञानी ही 'स्व' में स्थित अर्थात् स्वस्थ हो सकता है।

करके जानना

आज सारी शिक्षा—व्यक्ति दूसरों से कैसे संबंधित हों—यह तो सिखा देती है, लेकिन अपने से कैसे संबंधित हों—यह नहीं सिखाती। समाज का कोई उद्देश्य भी नहीं है कि व्यक्ति अपने से संबंधित हो जाए। वह तो यही चाहता है कि व्यक्ति दूसरों से संबंधित हो और कुशलता से काम करे। समाज की सारी शिक्षा उपयोगिता की शिक्षा है। आनंद से, प्रेम से, शांति से, प्रार्थना से, ध्यान से कुछ भी

शेष पृष्ठ 41 पर

कहानी

परीक्षा

❑ प्रेमचंद ❑

जब रियासत देवगढ़ के दीवान सरदार सुजानसिंह बूढ़े हुए तो परमात्मा की याद आई। जाकर महाराज से विनय की कि दीनबंधु! दास ने श्रीमान की सेवा चालीस साल तक की, अब मेरी अवस्था भी ढल गई, राज-काज संभालने की शक्ति नहीं रही। कहीं भूल-चूक हो जाए तो बुढ़ापे में दाग लगे। सारी जिंदगी की नेकनामी मिट्टी में मिल जाय।

राजा साहब अपने अनुभवशील नीतिकुशल दीवान का बड़ा आदर करते थे। बहुत समझाया, लेकिन जब दीवान साहब ने न माना, तो हारकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली; पर शर्त यह लगा दी कि रियासत के लिए नया दीवान आप ही को खोजना पड़ेगा।

दूसरे दिन देश के प्रसिद्ध पत्रों में यह विज्ञापन निकला कि देवगढ़ के लिए एक सुयोग्य दीवान की जरूरत है। जो सज्जन अपने को इस पद के योग्य समझें वे वर्तमान सरकार सुजानसिंह की सेवा में उपस्थित हों। यह जरूरी नहीं है कि वे ग्रेजुएट हों, मगर हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है, मंदाग्नि के मरीज को यहां तक कष्ट उठाने की कोई जरूरत नहीं। एक महीने तक उम्मीदवारों के रहन-सहन, आचार-विचार की देखभाल की जाएगी।

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा मनुष्य था जिसके हृदय में दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गई थी। लंगड़ाता हुआ धीरे-धीरे चला आता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। उसे किसान की सूरत देखते ही सब बातें ज्ञात हो गईं। डंडा एक किनारे रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोला—मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूं?

विद्या का कम, परंतु कर्तव्य का अधिक विचार किया जाएगा। जो महाशय इस परीक्षा में पूरे उतरेंगे, वे इस उच्च पद पर सुशोभित होंगे।

•

इस विज्ञापन ने सारे मुल्क में तहलका मचा दिया। ऐसा ऊंचा पद और किसी प्रकार की कैद नहीं? केवल नसीब का खेल है। सैकड़ों आदमी अपना-अपना भाग्य परखने के लिए चल खड़े हुए। देवगढ़ में नए-नए और रंग-बिरंगे मनुष्य दिखाई देने लगे। प्रत्येक रेलगाड़ी से उम्मीदवारों का एक मेला-सा उतरता। कोई पंजाब से चला आता था, कोई मद्रास से, कोई नई फैशन का प्रेमी, कोई पुरानी सादगी पर मिटा हुआ। पंडितों और मौलवियों को भी अपने-अपने भाग्य की परीक्षा करने का अवसर मिला। बेचारे सनद के नाम रोया करते थे, यहां उसकी कोई जरूरत नहीं थी। रंगीन एमामे, चोगे और नाना प्रकार के अंगरखे और कंटोप देवगढ़ में अपनी सज-धज दिखाने लगे। लेकिन सबसे विशेष संख्या ग्रेजुएटों की थी, क्योंकि सनद की कैद न होने पर भी सनद से परदा तो ढंका रहता है।

सरदार सुजानसिंह ने इन महानुभावों के आदर-सत्कार का बड़ा अच्छा प्रबंध कर दिया था। लोग अपने-अपने कमरों में बैठे हुए रोजेदार मुसलमानों की तरह महीने के दिन गिना करते थे। हर एक मनुष्य अपने जीवन को अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छे रूप में दिखाने की कोशिश करता था। मिस्टर अ नौ बजे दिन तक सोया करते थे, आजकल वे बगीचे में टहलते हुए ऊषा का दर्शन करते थे। मि. ब को हुक्का पीने की लत थी, आजकल बहुत रात गए किवाड़ बंद करके अंधेरे में सिगार पीते थे। मि. द्र स और ज से उनके घरों पर नौकरों के नाक में दम था, लेकिन ये सज्जन आजकल 'आप' और 'जनाब' के बगैर नौकरों से बातचीत नहीं करते थे। महाशय क नास्तिक थे, हक्सले के उपासक, मगर आजकल उनकी धर्मनिष्ठा देख कर मंदिर के पुजारी को पदच्युत हो जाने की शंका लगी रहती थी! मि. ल को किताब से घृणा थी, परंतु आजकल वे बड़े-बड़े ग्रंथ देखने-पढ़ने में डूबे रहते थे। जिससे बात कीजिए, वह नम्रता और सदाचार का देवता बना मालूम देता था। शर्माजी घड़ीरात से ही वेद-मंत्र पढ़ने में लगते थे और मौलवी साहब को नमाज और तलावत के सिवा और कोई काम न था। लोग समझते थे कि एक महीने का झंझट है, किसी तरह काट लें, कहीं कार्य सिद्ध हो गया तो कौन पूछता है।

लेकिन मनुष्यों का वह बूढ़ा जौहरी आड़ में बैठा हुआ देख रहा था कि इन बगुलों में हंस कहां छिपा हुआ है।

●

एक दिन नए फैशनवालों को सूझी कि आपस में हाकी का खेल हो जाए। यह प्रस्ताव हाकी के मंजे हुए खिलाड़ियों ने पेश किया। यह भी तो आखिर एक विद्या है। इसे क्यों छिपा रखें। संभव है, कुछ हाथों की सफाई ही काम कर जाए। चलिए तय हो गया, फील्ड बन गई, खेल शुरू हो गया और गेंद किसी दफ्तर के अप्रेंटिस की तरह ठोकरें खाने लगी।

रियासत देवगढ़ में यह खेल बिल्कुल निराली बात थी। पढ़े-लिखे भलेमानुस लोग शतरंज और ताश जैसे गंभीर खेल खेलते थे। दौड़-कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे।

खेल बड़े उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को लेकर तेजी से उड़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई लहर बढ़ती चली आती है। लेकिन दूसरी ओर से खिलाड़ी इस बढ़ती हुई लहर को इस तरह रोक लेते थे कि मानो लोहे की दीवार है।

संध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने से तर हो गए। खून की गर्मी आंख और चेहरे से झलक रही थी। हांफते-हांफते बेदम हो गए, लेकिन हार-जीत का निर्णय न हो सका।

अंधेरा हो गया था। इस मैदान से जरा दूर हटकर एक नाला था। उस पर कोई पुल न था। पथिकों को नाले में से चल कर आना पड़ता था। खेल अभी बंद ही हुआ था और खिलाड़ी लोग बैठे दम ले रहे थे कि एक किसान अनाज से भरी हुई गाड़ी लिए हुए उस नाले में आया। लेकिन कुछ तो नाले में कीचड़ था और कुछ उसकी चढ़ाई इतनी ऊंची थी कि गाड़ी ऊपर न चढ़ सकती थी। वह कभी बैलों को ललकारता, कभी पहियों को हाथ से ढकेलता लेकिन बोझ अधिक था और बैल कमजोर। गाड़ी ऊपर को न चढ़ती और चढ़ती भी तो कुछ दूर चढ़कर फिर खिसककर नीचे पहुंच जाती। किसान बार-बार जोर लगाता और बार-बार झुंझलाकर बैलों को मारता, लेकिन गाड़ी उभरने का नाम न लेती। बेचारा इधर-उधर निराश होकर ताकता मगर वहां कोई सहायक नजर न आता। गाड़ी को अकेले छोड़कर कहीं जा भी नहीं सकता। बड़ी आपत्ति में फंसा हुआ था। इसी बीच में खिलाड़ी हाथों में डंडे लिए घूमते-घामते उधर से निकले। किसान ने उनकी तरफ सहमी हुई आंखों से देखा; परंतु किसी से मदद मांगने का साहस न हुआ। खिलाड़ियों ने भी उसको देखा मगर बंद आंखों से, जिनमें सहानुभूति न थी। उनमें स्वार्थ था, मद था, मगर उदारता और वात्सल्य का नाम भी न था।

●

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा मनुष्य था जिसके हृदय में दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गई थी। लंगड़ाता हुआ धीरे-धीरे चला आता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। उसे किसान की सूरत देखते ही सब बातें ज्ञात हो गईं। डंडा एक किनारे रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोला—मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूं?

किसान ने देखा एक गठे हुए बदन का लंबा आदमी

सामने खड़ा है। झुककर बोला—हुजूर मैं आपसे कैसे कहूं? युवक ने कहा—मालूम होता है, तुम यहां बड़ी देर से फंसे हो। अच्छा, तुम गाड़ी पर जाकर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूं। अभी गाड़ी ऊपर चढ़ जाती है।

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहिए को जोर लगाकर उकसाया। कीचड़ बहुत ज्यादा था। वह घुटने तक जमीन में गड़ गया, लेकिन हिम्मत न हारी। उसने फिर जोर किया, उधर किसान ने बैलों को ललकारा। बैलों को सहारा मिला, हिम्मत बंध गई, उन्होंने कंधे झुकाकर एक बार जोर किया तो गाड़ी नाले के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला—महाराज, आपने आज मुझे उबार लिया, नहीं तो सारी रात मुझे यहां बैठना पड़ता।

युवक ने हंसकर कहा—अब मुझे कुछ इनाम देते हो? किसान ने गंभीर भाव से कहा—नारायण चाहेंगे तो दीवानी आपको ही मिलेगी।

युवक ने किसान की तरफ गौर से देखा। उसके मन में एक संदेह हुआ, क्या यह सुजानसिंह तो नहीं हैं? आवाज मिलती है, चेहरा-मोहरा भी वही। किसान ने भी उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। शायद उसके दिल के संदेह को भांप गया। मुस्कराकर बोला—गहरे पानी में बैठने से ही मोती मिलता है।

●

निदान महीना पूरा हुआ। चुनाव का दिन आ पहुंचा। उम्मीदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी किस्मतों का फैसला सुनने के लिए उत्सुक थे। दिन काटना पहाड़ हो गया। प्रत्येक के चेहरे पर आशा और निराशा के रंग आते थे। नहीं मालूम, आज किसके नसीब जागेंगे! न जाने किस पर लक्ष्मी की कृपादृष्टि होगी।

संध्या समय राजा साहब का दरबार सजाया गया। शहर के रईस और धनाढ्य लोग, राज्य के कर्मचारी और दरबारी तथा दीवानी के उम्मीदवारों का समूह, सब रंग-बिरंगी सज-धज बनाए दरबार में आ विराजे! उम्मीदवारों के कलेजे धड़क रहे थे।

जब सरदार सुजानसिंह ने खड़े होकर कहा—मेरे दीवानी के उम्मीदवार महाशयो! मैंने आप लोगों को जो कष्ट दिया है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। इस पद के लिए ऐसे पुरुष की आवश्यकता थी जिसके हृदय में दया हो और साथ-साथ आत्मबल। हृदय वह जो उदार हो, आत्मबल वह जो आपत्ति का वीरता के साथ सामना करे और इस रियासत के सौभाग्य से हमें ऐसा पुरुष मिल गया। ऐसे गुण वाले संसार में कम हैं और जो हैं, वे कीर्ति और मान के शिखर पर बैठे हुए हैं, उन तक हमारी पहुंच नहीं। मैं रियासत को पंडित जानकीनाथ-सा दीवान पाने पर बधाई देता हूं।

रियासत के कर्मचारियों और रईसों ने जानकीनाथ की तरफ देखा। उम्मीदवार दल की आंखें उधर उठीं, मगर उन आंखों में सत्कार था, इन आंखों में ईर्ष्या।

सरदार साहब ने फिर फरमाया, आप लोगों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी कि जो पुरुष स्वयं जख्मी होकर भी एक गरीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दलदल से निकाल कर नाले के ऊपर चढ़ा दे उसके हृदय में साहस, आत्मबल और उदारता का वास है। ऐसा आदमी गरीबों को कभी न सताएगा। उसका संकल्प दृढ़ है जो उसके चित्त को-स्थिर रखेगा। वह चाहे धोखा खा जाए, परंतु दया और धर्म से कभी न हटेगा। ❖

ज्ञान तो केवल आत्मज्ञान पृष्ठ 38 का शेष

पैदा होता दिखाई नहीं देता। अतः इन सब बातों से समाज का, शिक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है। यह बड़ी कठिनाई है। कठिनाई अपरिचय की है, कठिनाई न जानने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। विज्ञान में तो जानकर ही कुछ किया जा सकता है, परंतु धर्म में कुछ करके ही जाना जा सकता है। धर्म की प्रक्रिया, अदृश्य की प्रक्रिया है। यह विज्ञान की प्रक्रिया से बिल्कुल विपरीत है। जीवन में जो भी गहरा, अंतरतम है—उसे करने से ही जाना जा सकता है। यदि प्रेम, प्रार्थना, ध्यान, शांति, आत्मा, परमात्मा को पहले जानने में लग जाएंगे तो जान तो पाएंगे नहीं और जानने की कोशिश में वह शक्ति भी खो जाएगी जो करने में काम आ सकती थी। मनुष्य में दिव्यता भरी है, आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है, परंतु अंधकार से ढकी हुई है। यदि वहां तक पहुंचने के सूत्रों को ध्यान में रखते हुए अचूक विधियां काम में ली जाएं तो वहां तक पहुंचा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में संभावना है, क्षमता है—अपने स्वभाव तक पहुंचने की, जिसे वह अपने जन्म के साथ लेकर ही पैदा हुआ है।

आवश्यकता है तो इसे अनुभूत करने की है। ❖

अरविंद ओझा की कविताएं

•

मत करो
मेरे शहर का
आकाश
तुम इतना मैला
कि मैं
छत से
देख ही न पाऊं
उजले मुंह का चांद
कि चांद ही तो बचा है
लोहे के इस सख्त शहर में
बहुत अच्छे दिनों की याद
कि
जब नहीं
उगे थे शहर में
चिमनियों और सायरनों के पेड़

अब शहर
बस शोर है
कि चुप हवा भी नहीं अब
काले हो गए हैं
चेहरे सबके
आकाश बाकी और है

धूप कभी
उतरी नहीं
इन दफ्तरों की मंजिलों में
कारखानों की भट्टियों में
बंद कमरों की खिड़कियों में
बस
सूरज के अंधेरे ही
दीखे हैं
लंबी सड़क के छोर तक
फुटपाथ पर चलते

खुली रहने दो
खिड़की
आकाश की ही
कि मरने पर तो
निकल पाएं
कहीं दूर
शहर से

••

मेरे भीतर
अब भी है अवशेष
एक मंदिर के

शिला खंडों के बीच
साबुत तुम्हारी वह प्रतिमा
आस्था की

मैंने पूरा प्रयास किया
इसे बचाने का

पर शायद मैं
अब सक्षम नहीं
रह पाऊं

इन दिनों की तेज हवाओं ने
हिला दी हैं
मेरे द्वारे के
दरख्तों की जड़ें।

•••

बेशक
झर चुके सब पात
लेकिन ठूंठ नहीं
हुई है देह

इक हरी पत्ती
की आस
फिर भी है शेष

••••

मैं पूरा पेड़
न सही
ठूंठ भी नहीं हूं
मेरे हिस्से की भी तो
जमीन है
अपनी
और हैं जड़ें गहरी

•••••

मैं
भी तो
रहा था
हरा
कभी
और पूरा भरा

था भरा
इसीलिए तो मरा

क्यों नहीं
सुहाता पर
किसी को
किसी का होना हरा ❖❖

शीलन

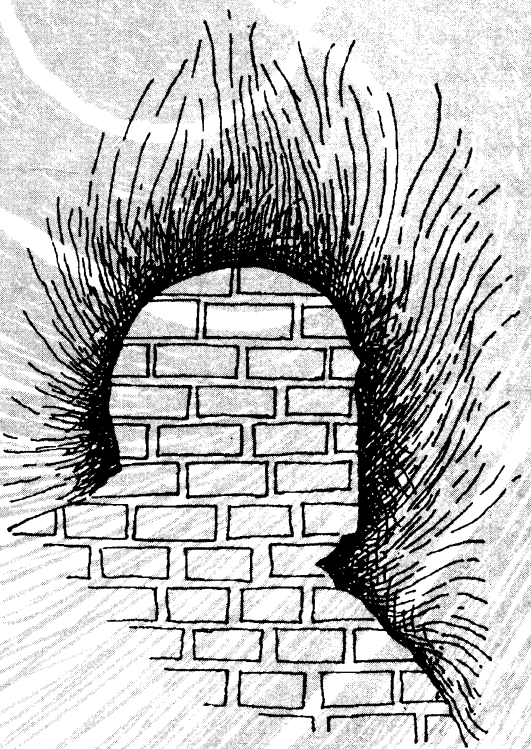

विकासगामी मनुष्य स्वभावतः नीति एवं धर्म-परायण होता ही है। लेकिन जिन्हें हम आज धर्म और नीति के नाम से पहचानते हैं उनमें नीति और धर्म कितने हैं, इस प्रश्न को छेड़ते हुए भी मैं कहूंगा कि धर्म और नीति अंतःवृत्ति की चीजें हैं। भिन्न-भिन्न स्तरों पर खड़े व्यक्तियों को धर्म और नीति को समझने में अंतर पड़ने का यही कारण है। देश, काल और समाज के संबंध में धर्म-नीति की कल्पना में बड़ा फर्क दिखाई देता है। इसके मूल में यही कारण है। सच पूछें तो विकास चाहने वाली प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा अपनी नीति और अपने धर्म को स्वतंत्र स्थिति में ही समझ सकती है, और बहुधा बहिर्-धर्म और नीति के बंधन तोड़कर भी चलती है। उसकी प्रगति के साथ धर्म-नीति का खयाल (परशेप्सन) बढ़ता और बदलता जाता है। अतः धर्म-नीति हमेशा सापेक्ष रहती है।

—गिजुभाई

मोहन से महाश्रमण—एक अनुपम पड़ाव

❑ साध्वी सुमतिप्रभा

जीवन की गहराई को समझने वाली और उसे निपुणता से जीने वाली श्रद्धानिष्ठ श्राविका नेमादेवी की कुक्षि से 13 मई, 1962 (वि. सं. 2019, वैशाख शुक्ला नवमी) को एक होनहार बालक ने जन्म लिया। बालक का नाम मोहनलाल रखा गया। मोहन बचपन में बहुत चंचल था। अध्ययन में होशियार था तो भाई-भतीजों के साथ झगड़ने में भी कम नहीं था। मां व्याख्यान सुनकर आती तब तक तो शिकायतों का अंबार-सा लग जाता। एक दिन मां ने परेशान होकर कहा—'मोहन! तुम मेरे साथ व्याख्यान सुनने चला करो।' मोहन चंचल तो था, पर आज्ञाकारी भी था। वह मां के साथ साधुओं के स्थान पर पहुंचा। उन दिनों वहां मुनिश्री दुलीचंदजी 'दिनकर' प्रवास कर रहे थे। उनके साथ मुनिश्री पानमलजी (गंगाशहर) थे, जो कि बच्चों को तत्त्वज्ञान सिखाया करते थे, कहानियां सुनाया करते थे। मां ने मोहन को मुनिश्री के पास बिठाया और स्वयं व्याख्यान सुनने चली गई। मुनिराज ने मोहन को कहानियां सुनाईं और मोहन को कहानियों में रस आने लगा। अब वह हमेशा स्व-इच्छा से ही मां के साथ संतों के पास आने लगा। घर का आकर्षण भी धीरे-धीरे कम होने लगा।

सोचता हूं—मेरा जन्म तो आज हो रहा है। जीवन वही है जिसमें धर्म का विकास हो, शांति के नए आयाम हों। यह सब साधुत्व के मार्ग से ही बन सकता है। आप लोग भौतिकता की ओर दौड़ रहे हैं। दुनिया की सारी चीजों पर स्वामित्व चाहते हैं। सब सुख भोगना चाहते हैं। उन्हें पता नहीं भोग जीवन की

भाद्रपद शुक्ला द्वादशी
शुवाचार्य-मनोनयन
दिवस पर विशेष

आवश्यकता नहीं, चिनगारी है—जीवन का उत्कर्ष नहीं, अपकर्ष है। तभी तो लोग संसार छोड़कर साधना-लीन बनते हैं। संसार को समझना कठिन है, अनुभव करना मुश्किल है। साधना को समझना आसान है। अंतर्मुखता अक्षर-ज्ञान से नहीं आती, अवस्था से नहीं आती।

मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं) का विक्रम संवत् 2030-31 का चातुर्मास सरदारशहर में हुआ। मुनिश्री का प्रवास मोहन के लिए वरदान सिद्ध हुआ। मोहन को जब दीक्षा के लिए प्रेरित किया जाता तो मोहन हमेशा अच्छा श्रावक बनने की बात कहता। विक्रम संवत् 2030, भाद्रव शुक्ला षष्ठी, अष्टमाचार्य कालूगणी का स्वर्गारोहण दिवस—मोहन मध्याह्न में संतों की उपासना में पहुंचा। उस समय मुनिश्री सुमेरमलजी ने गंभीर मुद्रा में कहा—'मोहन! आज तुम्हें एक निर्णय कर ही लेना चाहिए कि गृहस्थ में रहना है, अथवा साधु बनना है।' मोहन निर्दिष्ट स्थान पर बैठकर चिंतन करने लगा। दो मार्ग मेरे सामने हैं—एक साधुत्व का और दूसरा गृहस्थ का। मोहन के मन में एक बात कौंधी—'यदि मैं जागरूकतापूर्वक संयम का पालन करूंगा तो मुझे पंद्रह भवों में मुक्ति मिल जाएगी।' बस, इस मुक्ति के आकर्षण ने मोहन को साधु बनने के लिए कृतसंकल्प बना दिया। अब मोहन का लक्ष्य स्पष्ट हो गया कि मुझे साधुत्व का मार्ग ही स्वीकार करना है।

तेरापंथ में दीक्षा मात्र स्वयं की स्वीकृति से ही नहीं हो सकती, परिवार की स्वीकृति भी अनिवार्य होती है। मोहन ने स्वीकृति-प्राप्ति के लिए प्रयास प्रारंभ

किया। पिताश्री झूमरमलजी दूगड़ का स्वर्गवास तो पहले ही हो चुका था। माता श्रीमती नेमादेवी और ज्येष्ठ भ्राता श्री सुजानमलजी से अनुमति मिलते ही मोहन संयम-रत्न को स्वीकार करने प्रस्थित हो गया।

विक्रम संवत् 2031, वैशाख शुक्ला चतुर्दशी के दिन सरदारशहर के श्री समवसरण में हजारों लोगों की उपस्थिति, मोहन ने गार्हस्थ्य जीवन का अंतिम वक्तव्य दिया—

'मुनिश्री सुमेरमलजी स्वामी, उपस्थित साधु-साध्वीगण एवं धर्मप्रेमी भाइयो एवं बहनो! आज के दिन की क्या महिमा गाऊं। आज का दिन वास्तव में अनंतानंत शुभकामनाएं लेकर आया है। मेरे जीवन का यह ऐतिहासिक दिन जीवन-भर याद रहेगा। मेरा जन्मदिन वैशाख शुक्ला नवमी को है, किंतु सोचता हूं—मेरा जन्म तो आज हो रहा है। जीवन वही है जिसमें धर्म का विकास हो, शांति के नए आयाम हों। यह सब साधुत्व के मार्ग से ही बन सकता है। लोग भौतिकता की ओर दौड़ रहे हैं। दुनिया की सारी चीजों पर स्वामित्व चाहते हैं। सब सुख भोगना चाहते हैं। उन्हें पता नहीं—भोग जीवन की आवश्यकता नहीं, चिनगारी है—जीवन का उत्कर्ष नहीं, अपकर्ष है। तभी तो लोग संसार छोड़कर साधना-लीन बनते हैं। संसार को समझना कठिन है, अनुभव करना मुश्किल है। साधना को समझना आसान है। अंतर्मुखता अक्षर-ज्ञान से नहीं आती, अवस्था से नहीं आती। यह तो पूर्वजन्म के संयोग-संचय तथा दृढ़-संकल्प से ही संभव है। बिना अंतर्मुखता के साधना का आनंद नहीं आ सकता। दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है। बंधुओ! वह महान अवसर आज उपस्थित है। युगप्रधान आचार्यश्री की अनंत अनुकंपा से मैं आज साधना में प्रवेश कर रहा हूं। आप सबका आशीर्वाद तथा शुभकामनाएं मेरे साथ रहेंगी।'

'इस मंगल वेला में मैं परिवार वालों से कुछ कहना चाहूंगा। जीवन के इतने दिन आप लोगों के बीच में बीते। आप सबके स्नेहपूर्ण व्यवहार ने मुझे सदैव प्रसन्न बनाए रखा। आप सबने अपना दायित्व बखूबी निभाया। इसलिए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। अलविदा के दिन सबसे यही कामना करता हूं कि आप सबका धर्मसंघ के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव हो। उपस्थित जन-समुदाय से यही कहूंगा कि वे हमसे प्रेरणा लें। हम महाव्रती बनने जा रहे हैं, आप अणुव्रती बनें, बारहव्रती बनें। अंत में मुनिश्री सुमेरमलजी स्वामी से निवेदन करता हूं कि आप शीघ्रता करें। मेरे जीवन में आपकी प्रेरणा विशेष रही है, भविष्य में रहेगी।'

दीक्षा-संस्कार प्रायः आचार्य के सान्निध्य में ही होता है, पर विशेष परिस्थितियों में कभी-कभी आचार्य की आज्ञा से अन्यत्र भी हो सकता है। मोहन की दीक्षा भी आचार्यश्री तुलसी की आज्ञा से सरदारशहर में मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं) के सान्निध्य में संपन्न हुई। वेश-परिवर्तन के साथ ही मोहन का नाम भी परिवर्तित हो गया। अब मोहन 'मुनि मुदित' बन गया। दीक्षा के बाद दस साल तक मुनि मुदितकुमार कभी केंद्र (आचार्यवर की सन्निधि) में रहे, तो कभी मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं) आदि के साथ बहिर्विहार में रहे, पर अधिकांशतः उन्हें गुरु-सन्निधि में रहने का दुर्लभ अवसर सहज ही प्राप्त होता रहा।

विक्रम संवत् 2041, ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को आचार्यश्री तुलसी ने मुनि मुदितकुमारजी से पूछा—'बोलो, क्या काम कर सकते हो?' मुदितकुमारजी का उत्तर था—'जो गुरुदेव फरमाएंगे।' गुरुदेव तुलसी ने फरमाया—'आज तक तो हमारी पंचमी समिति की पात्री मुनि मधुकरजी रखते थे। अब से तुम रखा करो।' इस निर्देश के साथ ही मुनि मुदितकुमारजी गुरुदेव श्री तुलसी की अंतरंग सेवा में नियुक्त हो गए। तेरापंथ धर्मसंघ में इस नियुक्ति का विशेष महत्त्व है। इससे गुरु-सेवा का अलभ्य अवसर प्राप्त हो जाता है। उदयपुर मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी ने अपने शिष्य मुदित को युवाचार्य महाप्रज्ञ के 'अंतरंग सहयोगी' के रूप में नियुक्त किया। संघीय दृष्टि से उनका विकासक्रम यहीं से प्रारंभ हो गया। वे निष्ठापूर्वक युवाचार्य महाप्रज्ञ के निर्देशानुसार काम करते रहे।

योगक्षेम वर्ष का आयोजन, भाद्रव शुक्ला नवमी, आचार्यश्री तुलसी का 54वां पट्टारोहण दिवस। गुरुदेव ने अपने जीवनकाल में अनेक विलक्षण कार्य किए। उनमें से एक कार्य था—महाश्रमण और महाश्रमणी पदों का सृजन। महाश्रमण के रूप में अपने अंतेवासी शिष्य मुदित को और महाश्रमणी के रूप में साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी को नियुक्त किया गया। महाश्रमण नियुक्ति के बाद गुरुदेव ने कई बार भविष्य के स्पष्ट संकेत दिए। एक बार गुरुदेव ने शुद्ध उच्चारण की दृष्टि से संस्था की बहनों एवं समणियों को विशेष प्रशिक्षण देने के लिए महाश्रमणजी को निर्देश दिए। महाश्रमणजी की भावना थी कि यह कार्य गुरुदेव की सन्निधि में हो तो अच्छा रहेगा। गुरुदेव ने स्पष्ट कहा—'क्या हमेशा हम ही करते रहेंगे? आगे तो तुम्हें ही करना है। अतः तुम स्वयं उन्हें अभ्यास कराओ।' कभी उमका संकेत होता—'तुम भी अपने भावी दायित्व को समझो',

तो कभी नियुक्ति-पत्र में लिखवाते—'महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी, आचार्य महाप्रज्ञ के गण-संचालन के कार्य में सतत सहयोगी रहें तथा स्वयं गण-संचालन की योग्यता विकसित करें। इसके लिए अवशेष जो करणीय है, वह उचित समय पर आचार्य महाप्रज्ञ करेंगे।' और वह उचित अवसर आया भाद्रव शुक्ला द्वादशी, वि. सं. 2054 को ग्यारह बजकर इक्कीस मिनट पर गंगाशहर के चौपड़ा हाई स्कूल में निर्मित विशाल पंडाल, शुभ मुहूर्त और मंगल वेला में। घड़ी में ग्यारह बजकर इक्कीस मिनट की सूचना मिलते ही आचार्यवर ने कहा—'आओ मुनि मुदितकुमार!' यह सुनते ही जय-निनादों से पंडाल गूंज उठा। नियुक्ति-पत्र वाचन के बाद आचार्यश्री ने पहले अपने तनुरत्न पर पछेवड़ी धारण की, फिर उसे उतारकर अपने नव-निर्वाचित युवाचार्य को ओढ़ा दी। इसके साथ ही नाम भी 'महाश्रमण' घोषित कर दिया। अब मुनि मुदितकुमार, युवाचार्य महाश्रमण बन गए। इतने दिनों तक महाश्रमण एक पद था। अब वह नाम बन गया।

युवाचार्य महाश्रमण की विनम्रता, सहिष्णुता, सहजता, श्रमशीलता और समर्पण भाव ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को निश्चिंत बना दिया है। लगता है कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी निश्चय ही अपने-आप में गौरव का अनुभव कर रहे हैं—ऐसे श्रम और समर्पणनिष्ठ उत्तराधिकारी को पाकर। इसी संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक बार श्रीडूंगरगढ़ में फरमाया—'स्वामीजी ने मुनि हेमराजजी स्वामी की विलक्षण प्रतिभा व बेजोड़ समर्पण-भाव को देखकर भारमलजी स्वामी से कहा था—भारमल! तुम भाग्यशाली हो तुम्हें हेमड़ा मिल गया। शायद आज स्वामीजी मुझे भी कह रहे होंगे— महाप्रज्ञ! तुम भाग्यशाली हो, तुम्हें भी महाश्रमण के रूप में 'हेमड़ा' मिल गया।' हेमड़ा के रूप में युवाचार्य महाश्रमण को पाकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ही नहीं, संपूर्ण धर्मसंघ प्रसन्न है, आनंदित है।

युवाचार्य महाश्रमण एक श्रेष्ठ वक्ता, लेखक और चिंतक तो हैं ही, उससे कहीं ज्यादा वे एक श्रेष्ठ श्रोता हैं। सबकी बात बड़े धैर्य और मृदु-मुस्कान के साथ, उपशांत कषायभाव से सुनते हैं। अवसर हो और जरूरी हो तो बहुत सीमित शब्दों में परामर्श भी देते हैं। न बोलने के संदर्भ में उनका एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'अनावश्यक न बोलना सबसे बड़ा मौन है।' मन, वचन, काय के संयम और कषाय उपशांतता से ही वीतरागता की ओर प्रस्थान होता है। संयोग कहिए कि 27 अप्रैल, 2001 (श्रीडूंगरगढ़ में) भगवान महावीर का कैवल्य कल्याणक व युवाचार्यवर का जन्मदिन साथ में था। क्योंकि उस दिन नवमी और दशमी (दोनों तिथियों) का संगम था। आचार्यवर ने तब फरमाया—'महाश्रमण अवसरज्ञ हैं। जन्म भी अवसर देखकर लिया है। इन्हें पहले से ही सूझ गया कि मुझे भी अतींद्रिय चेतना का विकास करना है। मैं शुभकामना करता हूं, महाश्रमण कैवल्य की दिशा में प्रस्थान करें।' युवाचार्य महाश्रमण के लिए ये शब्द महान निधि-रूप कहे जा सकते हैं। ❖

एक ब्राह्मण युवक से वार्तालाप में बुद्ध ने उसे बताया कि एक योग्य शिष्य किस प्रकार सत्य के मर्म को जानता है : जब पक्के सोच-विचार के बाद शिष्य यह मान लेता है कि अमुक व्यक्ति त्रुटि की संभावनाओं से पूरी तरह मुक्त है तो वह उसका विश्वास करने लगता है। विश्वास मन में लेकर वह उसके पास जाता है और उसका शिष्य बनता है। उसका शिष्य बनकर वह अपने कान खोलता है। कानों को खोलकर वह उसकी शिक्षा को सुनता है। शिक्षा को सुनकर वह उसे मन में बिठाता है। जो सत्य उसने मन में बिठाए हैं उनके अर्थों का अन्वेषण करता है। वह उन पर मनन करता है। इससे उसकी निश्चयता उत्पन्न होती है। जो-कुछ उसने निश्चय किया है उस पर वह कर्मरत भी होता है। वह अपने कर्म के महत्त्व को परखता है। यह परखने के बाद वह अपने सारे प्रयास करता है। प्रयास के द्वारा वह सत्य के पास पहुंचता है।

—हेलेना रेरिख

पढमं नाणं तओ दया

❑ साध्वी जिनप्रभा

❑

अंधकार और प्रकाश दो विरोधी तत्त्व हैं, लेकिन मनुष्य सदा प्रकाशप्रिय रहा है। अंधकार उसे कभी रुचिकर नहीं रहा। उसका अंतरमानस यही प्रार्थना करता रहता है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय—प्रभो! मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो'। अंधकार सुषुप्ति का सूचक है और प्रकाश जागरण का। अंधकार आलस्य का सूचक है, प्रकाश पुरुषार्थ का। सूर्य की किरणें रात्रि के अंधकार को भेदकर जब धरती पर दस्तक देती हैं तो सारा जीव-लोक तंद्रा/निद्रा को छोड़कर कर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है। सूर्य जब अस्ताचल की ओर जाने की तैयारी करता है और अंधकार धरती पर अपना साम्राज्य बिछाने को तत्पर होता है तब मनुष्य उससे बचने के रास्ते खोजता है। पहले वह दीया जलाता था, फिर 'लालटेन' जलाने लगा और अब तो विज्ञान ने विद्युत का ऐसा आविष्कार कर दिया है कि घोर अंधेरी रातें भी चांदी-सी उजली चमक उठती हैं, अंधेरा जैसे कभी होता ही नहीं।

प्रकाश भीतर का

प्रकाश चाहे सूरज का हो, दीपक का हो या विद्युत का—ये सभी बाह्य प्रकाश हैं। ये प्रकाश बाह्य वस्तुओं को ही प्रकाशित कर सकते हैं, अंतश्चेतना को आलोकित करने का सामर्थ्य इनमें नहीं है। अंतर को प्रकाशित करने वाला तत्त्व है—ज्ञान। जब मानवीय चेतना का अंतःदीप जल उठता है, तो उसके बाद बाह्य प्रकाश का होना-न-होना अधिक महत्त्व नहीं रखता, अपने ज्ञान के आलोक में क्षितिज के आर-पार भी झांक सकता है। बहुत-से ऐसे व्यक्तियों को हम देखते हैं जिनके पास चर्मचक्षु नहीं होते, पर प्रज्ञा/ज्ञानचक्षु के कारण उन्हें किसी के सहारे की जरूरत नहीं होती। वे अपने अंतर्ज्ञान से अपना पथ प्रशस्त कर लेते हैं।

चर्मचक्षु वालों को दिन की दुपहरी में भी कई बार पथच्युत होते देखा है और प्रज्ञाचक्षु वाले रात के घुप्प अंधेरे में भी सही पथ पर चलते देखे जा सकते हैं। ज्ञानी व्यक्तियों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा—'नाणं पयासयरं—ज्ञान प्रकाश करने वाला है।' जो व्यक्ति सम्यक्-ज्ञान का अर्जन करता है—वह संसार-सागर में कभी भटकता नहीं। साधना के क्षेत्र में ज्ञान और आचार को संबद्ध करते हुए भगवान महावीर ने कहा—'पढमं नाणं तओ दया—पहले ज्ञान प्राप्त करो, आचरण का पथ स्वतः प्रशस्त हो जाएगा।' अज्ञानी व्यक्ति कैसे जानेगा कि उसके लिए क्या करणीय है

ज्ञानी व्यक्तियों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा—'नाणं पयासयरं—ज्ञान प्रकाश करने वाला है।' जो व्यक्ति सम्यक्-ज्ञान का अर्जन करता है—वह संसार-सागर में कभी भटकता नहीं। साधना के क्षेत्र में ज्ञान और आचार को संबद्ध करते हुए भगवान महावीर ने कहा—'पढमं नाणं तओ दया—पहले ज्ञान प्राप्त करो, आचरण का पथ स्वतः प्रशस्त हो जाएगा।' अज्ञानी व्यक्ति कैसे जानेगा कि उसके लिए क्या करणीय है और क्या अकरणीय? क्या हेय है और क्या उपादेय? क्या हितकर है और क्या अहितकर?

बृहत्कल्प भाष्य में गुरु-शिष्य का संवाद प्रस्तुत करते हुए अनेक युक्तियों के द्वारा ज्ञान के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। दृष्टांतों के माध्यम से वह संवाद बड़ा ही सरस और सुबोध बन पड़ा है।

और क्या अकरणीयै? क्या हेय है? और क्या उपादेय? क्या हितकर है और क्या अहितकर?

बृहत्कल्प भाष्य में गुरु-शिष्य का संवाद प्रस्तुत करते हुए अनेक युक्तियों के द्वारा ज्ञान के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। दृष्टांतों के माध्यम से वह संवाद बड़ा ही सरस और सुबोध बन पड़ा है।

एक व्यक्ति तीव्र वैराग्य-भाव से गुरु के पास दीक्षित हुआ। दीक्षा के बाद गुरु ने उसे शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा दी। शिक्षा के दो रूप हैं—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में शास्त्रों का अध्ययन करवाया जाता है और आसेवन शिक्षा में साधु-चर्या के प्रति सजग किया जाता है। शिष्य साधु-चर्या में बहुत जागरूक हो गया। प्रतिलेखन-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं में कभी प्रमाद नहीं करता, पर शास्त्रों के अध्ययन में उसकी किंचित भी रुचि नहीं थी। गुरु ने उसे बार-बार अध्ययन करने की प्रेरणा दी, किंतु शिष्य के मन में कोई आकर्षण नहीं जगा। ऊसर भूमि पर मेघवर्षण की भांति गुरु का उपदेश व्यर्थ गया।

एक दिन गुरु ने वात्सल्य उंडेलते हुए शिष्य से कहा—'वत्स! तुम पढ़ो। ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान का बहुत बड़ा मूल्य है।' शिष्य शास्त्रों का अभ्यासी नहीं था, पर तर्क-बुद्धि-संपन्न था। उसने विनम्रता के साथ बद्धांजलि होकर निवेदन किया—'गुरुदेव! मैं आपके पास दीक्षित हुआ हूं। तपस्या में रुचि रखता हूं। समिति, गुप्ति में पूर्ण सावधान हूं, वैयावृत्य आदि में भी उपेक्षा नहीं करता, भिक्षाचर्या में दोष नहीं लगाता। एकाग्रमना हूं, मेरा चित्त चंचल नहीं है, मैं संयम-योग में स्थिर हूं—ऐसी स्थिति में शास्त्रों के अध्ययन से मेरा कौन-सा या क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? आत्म-लक्ष्य की प्राप्ति तो आचरण से होगी, फिर ज्ञान को कंठस्थ करने में सिरस्फोटन क्यों करूं?'

गुरु ने सोचा—शिष्य यूं समझने वाला नहीं है। इसे समझाने के लिए कोई उपाय काम में लेना होगा। बहुत बार जो बात उपदेश से समझ में नहीं आती, वह दृष्टांत/उदाहरण से आ जाती है। यही सोचकर गुरु ने एक बात सोदाहरण कही—'वत्स! मैं तुम्हें दो दृष्टांतों से ज्ञान की उपयोगिता समझाना चाहता हूं। तू ध्यान से सुन।' शिष्य गुरु को सुनने में दत्तावधान हो गया।

गज-दृष्टांत

गुरु बोले—वत्स! हाथी अपने शरीर पर लगे हुए मल को धोने के लिए नदी या तालाब आदि में उतरता है, पर वहां से निकलते ही वह अपनी सूंड से रेत को उठाकर फिर शरीर पर उछाल लेता है। इस प्रकार वह पुनः मल से अवगुंठित हो जाता है। इसका कारण उसका अज्ञान ही है। इसी प्रकार एक अज्ञानी प्राणी अतिशय उद्यम करता हुआ भी पुनः-पुनः कर्म-रजों का संचय करता रहता है। तुम दीक्षित तो हो गए हो, पर अध्ययन के अभाव में तुम्हारे अज्ञान का पर्दा दूर नहीं होगा। आगम-विरुद्ध आचार और अनाचार का तुम्हें सम्यक् बोध नहीं होगा। बोध के अभाव में आगम-विरुद्ध आचरण करते हुए तुम कर्म-रजों को दूर करने के बदले अधिक कर्म-रजों से आत्मा को अवगुंठित कर लोगे।

श्लीपद-दृष्टांत

गुरु ने दूसरा दृष्टांत देते हुए कहा—शिष्य! श्लीपद पांव का रोग है। इसमें व्यक्ति का पैर शिला की तरह मोटा और भारी हो जाता है। बोलचाल की भाषा में उस रोग को हाथीपगा भी कहते हैं। इसी हाथीपगा रोग से ग्रस्त व्यक्ति खेत में अन्न के पौधों के बीच उगे हुए अनावश्यक घास को हाथों से उखाड़ने जाता है, पर जितनी घास वह उखाड़ता है, उससे कहीं अधिक मूल पौधों को पैरों से रौंद डालता है और खेत का नुकसान करता है। तू भी शास्त्रों के ज्ञान के अभाव में वैसे ही चारित्ररूपी खेती को असंयमरूपी कर्दम से वेष्टित कर दोगे।

शिष्य को समझाने के लिए प्रयुक्त दोनों दृष्टांत सुनकर भी शिष्य का मन अध्ययन की ओर उन्मुख नहीं हुआ। उसके मन में शास्त्रों के अध्ययन के प्रति किंचित भी रुचि नहीं जगी। उसने अपने ही विचार को पोषण देने वाला एक दृष्टांत गुरु के सामने रखा।

आतुर-दृष्टांत

शिष्य बोला—गुरुदेव! एक रोगी व्यक्ति वैद्य के पास जाता है। वैद्य के सामने अपनी बीमारी बताता है और चिकित्सा पूछता है। वैद्य उसे वैद्यक संहिता (आयुर्वेद ग्रंथ) को पढ़ने का परामर्श कभी नहीं देता। ठीक वैसे ही आप भी कर्म-रूपी बीमारी को दूर करने वाले वैद्य हैं। मैं आप से पूछकर कर्म-रूपी बीमारी का उपचार कर लूंगा। शास्त्र पढ़ने का तो कोई प्रयोजन मुझे समझ ही नहीं आ रहा।

शिष्य की मति को भावित करते हुए गुरु बोले—वत्स! तुम्हारा कथन संगत है कि रोगातुर व्यक्ति वैद्य को बिना पूछे चिकित्सा नहीं कराता। वह वैद्य का परामर्श लेता है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसे वैद्यक ग्रंथों का अध्ययन नहीं करना चाहिए। यदि वह ग्रंथों का अध्ययन कर

लेता है तो उसे बार-बार वैद्य के पास जाना नहीं पड़ेगा। सामान्य बीमारियों की चिकित्सा वह अपने ज्ञान से स्वयं ही कर लेगा।

इतना समझाने के बाद भी शिष्य अपने आग्रह पर अड़ा रहा। उसने फिर निवेदन किया—गुरुदेव! वैद्य दूर रहता है, अतः उसके पास बार-बार जाने में कठिनाई भी हो सकती है, पर मुझे तो आपकी निकट सन्निधि का सौभाग्य प्राप्त है। मैं जहां-कहीं भी स्खलना करूंगा, आप उसे जान लेंगे और मेरा पथ-दर्शन कर देंगे। इसलिए मैं तो अध्ययन के झंझट में नहीं जाना चाहता।

गुरु आखिर गुरु ही होते हैं। शिष्य को हित में नियोजित करने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं। शिष्य अध्ययन करना नहीं चाहता और गुरु पढ़ने की दिशा में उसे प्रयत्नशील होने को प्रेरित करते रहते हैं। वे अपने प्रयास छोड़ नहीं देते। इसलिए उन्होंने फिर प्रयास किया। वे बोले—वत्स! तुम मेरी सन्निधि में रह रहे हो। मैं तुम्हें कदम-कदम पर सावधान करता ही रहूंगा, तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संघीय दृष्टि से अथवा शारीरिक दृष्टि से ऐसे कई कारण उपस्थित हो सकते हैं जिससे मैं तुम्हें जब भी चाहो, उपलब्ध न भी हो सकूं, उस समय तुम्हारी स्थिति उस अंधे-बहरे की तरह न हो जाए जो न सुन सकता है और न देख ही पाता है।

शिष्य ने अंधे व्यक्ति की स्थिति के बारे में जिज्ञासा की तो गुरु बोले—उज्जैनी नगरी में सोमिल नाम का ब्राह्मण रहता था। उम्र के पड़ाव पर जाकर वह अंधा हो गया। उसके आठ पुत्र थे। आठ ही पुत्रवधुएं भी थीं। पुत्रों ने पिता को आंखों की चिकित्सा कराने की सलाह दी। पिता ने कहा—प्रिय पुत्रो! तुम आठ पुत्रों की सोलह आंखें हैं। आठ, वधुओं की भी सोलह आंखें हैं। दो तुम्हारी मां की आंखें हैं। ये चौतीस आंखें मेरी ही तो हैं, अन्य परिजनों की जो आंखें हैं वे भी तो मेरी ही हैं। इतनी आंखों के होते मेरी दो आंखें यदि नहीं भी हैं तो क्या फर्क पड़ने वाला है।

संयोग की बात। घर में एक दिन आग लग गई। सब अपने-आप को बचाते हुए दौड़े। वृद्ध ब्राह्मण की सुध किसी ने नहीं ली। फलस्वरूप वृद्ध अपने घर में ही जिंदा जलकर राख हो गया। इसके विपरीत एक दूसरा वृद्ध व्यक्ति था। उसने अपनी आंखों की चिकित्सा करवा ली और आने वाले संकट से अपने को बचाने में वह समर्थ हो गया। शिष्य! तुम भी शास्त्रों का अध्ययन कर लोगे तो अपना मार्ग स्वयं खोज सकोगे और हिंसा, असंयम आदि दुष्प्रवृत्तियों से उपरत होकर संसाररूपी अटवी का पार पा सकोगे।

गुरु द्वारा इतने उदाहरण प्रस्तुत करने पर भी शिष्य का मन अध्ययन के प्रति उत्सुक नहीं बना। वह अपने आग्रह पर अड़ा रहा।

गुरु अपने शिष्य के प्रति कुछ विशेष ही कृपालु थे। वे उस पर बलात् कोई भी बात थोपना नहीं चाहते थे, पर उसे निरंतर प्रतिबोध देते रहना चाहते थे। छोटे बच्चे की हरकतों से जैसे पिता उत्तेजित नहीं होता, वैसे ही गुरु भी शिष्य की किसी भी हरकत से बिल्कुल ही उत्तेजित नहीं हुए। उन्होंने शिष्य पर करुणा बरसाते हुए कहा—वत्स! तूं यह मिथ्या आग्रह मत रख। श्रुत/शास्त्र तृतीय चक्षु है। इसके द्वारा अतींद्रिय पदार्थों का बोध किया जा सकता है। इस संदर्भ में गुरु ने शिष्य को पुनः एक बड़ी कथा सुनाई। उस कथा का सारांश यह है कि—एक अध्ययन पराङ्मुखी मुनि ने विहार करते हुए यात्रा में कुछ ग्रामीण बच्चों द्वारा कहे गए तीन श्लोक याद कर लिए। वे ही तीनों श्लोक एक समय में उसे जीवनदान देने वाले प्रमाणित हुए। उस समय उस मुनि ने चिंतन किया कि गुरु ने उसको पढ़ने के लिए कितनी प्रेरणा दी, पर पढ़ने में उसका मन नहीं लगा। अनपढ़ रहकर उसने अपनी ही आत्मा का अहित किया है। सामान्य व्यक्तियों द्वारा कही गई कुछ बातों को याद रखकर यदि वह मृत्यु के मुख में जाने से बच गया, तो सर्वज्ञ-भाषित श्रुत का अध्ययन कर लेता तो उसका कितना विकास हो जाता। गुरु द्वारा बार-बार प्रेरणा देने के बावजूद भी वह गुरु-वचनों की उपेक्षा करता रहा और शास्त्रों के अध्ययन में उदासीन रहा। काश! वह शास्त्रों का ज्ञाता बन पाता। इस चिंतन के साथ ही उसके कदम गुरु-चरणों की ओर बढ़े। उसने ज्ञान एवं गुरु की आशातना का प्रायश्चित्त किया। अपने जीवन में घटित पूरा घटनाक्रम सुनाकर पूरे मन से अध्ययन में संलग्न हो गया।

इस कथा को सुनकर शिष्य का हृदय आंदोलित हो गया। गुरु-चरणों में समर्पित होकर उसने अपने अज्ञान के लिए क्षमा मांगी और गुरु से अनुरोध किया कि उसे श्रुत की वाचना देने की कृपा करें।

शिष्य के विचारों में परिवर्तन और अध्ययन के प्रति जागृत रुचि को देख गुरु को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने शिष्य के विचारों को परिपुष्ट करने के लिए श्रुत अध्ययन से होने वाले अनेक गुणों की चर्चा की और ऐसी भूमिका का निर्माण कर दिया कि 'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान फिर आचार—यह बात शिष्य की चेतना में उतर गई। ❖

बालकथा

मुक्ति का संदेश

❑ अमर गोस्वामी

छोटे गुरुजी रामभज शहर के रहने वाले थे। शहर से गांव पांच मील दूर था। वे रोज साइकिल से पाठशाला आते थे। वे समय के पक्के थे। घड़ी देखकर घर से निकलते थे। पाठशाला में आकर जब घंटी बजवा देते तब मंझले गुरुजी दीनानाथ अपने गांव से रवाना होते थे। उनका घर बगल वाले गांव में था। पाठशाला की घंटी वहां तक सुनाई पड़ती थी।

इस पाठशाला में कुल तीन अध्यापक थे। इस वक्त वे दो ही थे। बड़े गुरुजी का तबादला हो गया था और कोई दूसरे बड़े गुरुजी आए नहीं थे। एक-दो दिन में उन्हें आ जाना था।

मंझले गुरुजी और छोटे गुरुजी की मेज-कुर्सियां अगल-बगल के आम के पेड़ों के नीचे लगी हुई थीं। कुछ बच्चे दोनों की नजर बचाकर पत्तियों से खेल रहे थे। छोटे गुरुजी की घुड़की खाकर वे फिर से अपनी पढ़ाई करने लगे। कुछ देर मौन रहने के बाद मंझले गुरुजी ने कहा, 'पाठशाला में लड़कों की संख्या घट रही है। जिला परिषद ने संख्या बढ़ाने के लिए कहा है। सरकार चाहती है—अधिक-से-अधिक बच्चे पढ़ें।' छोटे गुरुजी ने कहा, 'सरकार चाहती है कि बच्चे-प्रौढ़ सभी पढ़ना-लिखना सीख लें। पढ़ने से ही लोगों का भला होगा।' मंझले गुरुजी ने कहा, 'देहाती लोग पढ़ने-लिखने का मर्म क्या जानें।' फिर जैसे उन्हें कोई काम याद आ गया। बोले, 'जरा जन-संपर्क कर आऊं, कुछ काम भी है मुझे गांव में। आप जरा लड़कों को संभाले रखिए।' छोटे गुरुजी को मालूम था कि अब मंझले गुरुजी लौटकर पाठशाला नहीं आएंगे। गांव घूम-फिरकर अपने खेतों की ओर निकल जाएंगे। उन्हें रोकना बेकार था।

'सरकार चाहती है अधिक-से-अधिक बच्चे पढ़ें।' छोटे गुरुजी ने कहा, 'सरकार चाहती है कि बच्चे-प्रौढ़ सभी पढ़ना-लिखना सीख लें। पढ़ने से ही लोगों का भला होगा।' मंझले गुरुजी ने कहा, 'देहाती लोग पढ़ने-लिखने का मर्म क्या जानें।' फिर जैसे उन्हें कोई काम याद आ गया। बोले, 'जरा जन-संपर्क कर आऊं, कुछ काम भी है मुझे गांव में। आप जरा लड़कों को संभाले रखिए।' छोटे गुरुजी को मालूम था कि अब मंझले गुरुजी लौटकर पाठशाला नहीं आएंगे। गांव घूम-फिरकर अपने खेतों की ओर निकल जाएंगे। उन्हें रोकना बेकार था।

अंतरराष्ट्रीय साक्षरता दिवस
8 सितंबर
को याद करते हुए

थोड़ी देर बाद किसी को उधर आते हुए उन्होंने देखा। आगे-आगे एक लड़का सिर पर गठरी उठाए हुए था, जिसके पीछे-पीछे एक अधेड़ आदमी खद्दर की वेशभूषा में चल रहा था। दोनों थोड़ी देर में गुरुजी के सामने आकर खड़े हो गए। लड़के ने अपने सिर का बोझ उतार कर जमीन पर रख दिया। उस व्यक्ति ने लड़के के सिर पर प्यार से हाथ फेरा। फिर उसके हाथ में कुछ पैसे रखकर कहा, 'जाओ बेटा, मिठाई खा लेना।'

उस अधेड़ आदमी को देखकर छोटे गुरुजी ने पूछा, 'आपका परिचय? आपको यहां किसी से काम है?'

उस व्यक्ति ने कहा, 'मेरा नाम मुंशी बृजबिहारीलाल है। मैं इस पाठशाला का प्रधान अध्यापक होकर यहां आया हूं।' यह सुनते ही छोटे गुरुजी चौंककर खड़े हो गए। फिर झटपट मंझले गुरुजी वाली कुर्सी प्रधानाचार्य की ओर बढ़ा दी। फटाफट कई काम एक साथ कर डाले। उन्होंने एक लड़के को मंझले गुरुजी की तलाश में दौड़ा दिया। बड़े गुरुजी की कुर्सी को पाठशाला से झाड़-पोंछ कर बाहर निकलवाया और कुछ लड़कों को भेजकर कुएं से ठंडा जल खिंचवाया। सब लड़कों को डपटते हुए बड़े गुरुजी के आने की सूचना दी और प्रधानाचार्यजी से विनम्रतापूर्वक पूछा, 'बड़े गुरुजी! आपको यहां तक आने में कोई तकलीफ तो नहीं हुई?'

बड़े गुरुजी ने हंसते हुए कहा, 'एक बालक मिल गया था, उसी ने मार्गदर्शन कर दिया। पहले सोचा था, वह इस पाठशाला का छात्र होगा, मगर उसने बताया कि उस बेचारे ने तो किसी पाठशाला का कभी मुंह ही नहीं देखा है। मैंने उसे समझाया कि लिखना-पढ़ना भी बहुत जरूरी है।'

'चलिए, आपने आते ही यह नेक काम कर दिया।'

छोटे गुरुजी की इस बात पर बड़े गुरुजी हंसने लगे।

स्कूल के दो लड़के तब तक कुएं से ठंडा जल खींचकर ले आए थे। बड़े गुरुजी ने अपना सामान खोलकर गमछा निकाला। हाथ-मुंह धोकर मुंह पोंछते हुए बोले, 'कुएं के शीतल जल का यही आनंद है। कितनी भी थकान हो, झट दूर हो जाती है।'

छोटे गुरुजी ने कहा, 'सफर से थक गए हैं, मैं खटिया बिछवा देता हूं। थोड़ा आराम कर लीजिए। तब तक मैं जरा जलपान की व्यवस्था करता हूं।'

बड़े गुरुजी ने कहा, 'इसके लिए परेशान मत हों। मैं इस समय जलपान नहीं करता। मेरे आराम करने का भी यह समय नहीं है। पाठशाला के काम में बाधा नहीं पड़नी चाहिए।'

इसी बीच मंझले गुरुजी भी लपकते हुए आ पहुंचे। वे अपने खेतों की ओर निकल गए थे। सूचना पाकर वे भी भागे-भागे आए। छोटे गुरुजी ने अपने सहयोगी मंझले गुरुजी का परिचय प्रधानाचार्यजी से करवाया।

मंझले गुरुजी ने अभिवादन करते हुए कहा, 'आपके आने से हमें बड़ी खुशी हुई।'

'धन्यवाद, मगर आप कुछ हांफ रहे हैं। कहां से आ रहे हैं?'

'कुछ छात्रों के स्कूल न आने के कारण उनके माता-पिता से मिलने चला गया था। इंस्पेक्टर साहब का आदेश आया है।'

बड़े गुरुजी ने मुस्कराते हुए कहा—'यह काम तो स्कूल बंद होने के बाद करना चाहिए। बेचारे विद्यार्थियों का नुकसान क्यों करते हैं?'

मंझले गुरुजी कुछ खिसिया गए।

बड़े गुरुजी ने पाठशाला के सारे विद्यार्थियों को इकट्ठा किया। सबसे बातचीत की। सबकी कठिनाइयां पूछीं। फिर बोले, 'प्यारे बच्चो! आज से अपनी सारी चिंताएं घर में माता-पिता पर और विद्यालय में मुझ पर छोड़ दो। बस, तुम लोग मन लगाकर पढ़ो। जिस तरह खेत में तुम्हारे माता-पिता हल चलाते हैं, बीज डालते हैं, निराई-गुड़ाई करते हैं, खाद-पानी देते हैं, तब जाकर अच्छी फसल पैदा करते हैं, ठीक वैसे ही जब तुम लोग अपने दिमाग के खेत में मेहनत का हल चलाओगे, ज्ञान का बीज डालोगे, अज्ञान की खरपतवार साफ करोगे, तब तुम लोग लायक बनोगे। तुम लोगों को अपनी पढ़ाई का फल मिलेगा।'

इसके बाद उन्होंने कहा, 'अच्छा बच्चो! अब तुम सब मेरे साथ यह मंत्र दुहराओ—हम कड़ी मेहनत करेंगे। मन लगाकर पढ़ेंगे और उन्नति करेंगे।' बच्चों ने उनकी बातें दोहरा दीं। उन्होंने फिर कहा, 'कभी गलत काम नहीं करेंगे। किसी का जी नहीं दुखाएंगे।' बच्चों के लिए ये बातें नई थीं। सभी ने बड़े उत्साह से इन्हें भी दुहराया।

मंझले गुरुजी और छोटे गुरुजी की नजरें आपस में मिलीं। आंखों-ही-आखों में दोनों ने कहा, 'लगता है कुछ खब्ती है।'

दूसरे दिन बड़े गुरुजी ने बाजार से कुछ रंग खरीद और पानी में घोल कर पाठशाला की कच्ची दीवारों पर पाठशाला के ही बच्चों के अनगढ़ हाथों से लिखवाया—'सत्य साहस को जन्म देता है', 'मानव-प्रेम ही पूजा है', 'ईमानदारी सबसे बड़ा सुख है', 'ज्ञान अंधेरे की रोशनी है'—आदि-आदि।

बड़े गुरुजी मुस्कराते हुए अपने दोनों सहयोगियों से बोले, 'आप दोनों को भी कोई सुझाव देना हो तो जरूर दीजिए।'

मंझले गुरुजी बोले, 'बच्चे अच्छा नहीं लिख पा रहे हैं। कहिए तो शहर से किसी पेंटर को बुलवा दूं।'

बड़े गुरुजी ने कहा, 'इसकी कोई जरूरत नहीं। अभी उनके विचारों की तरह ये वाक्य भी कच्चे लग रहे हैं। धीरे-धीरे इनमें पक्कापन आएगा। हमें लिपि की बनावट की बजाय इनके मन को समझने का प्रयास करना होगा। ये तो संस्कार-बीज हैं, इन्हें ठीक समय पर बो देने से ये ठीक समय पर लहलहाने लगेंगे। चरित्र-निर्माण ही हमारी पहली शिक्षा होनी चाहिए।'

मंझले गुरुजी ने कहा—'ये बातें तो ठीक हैं, मगर ऐसा होता कहां है?'

बड़े गुरुजी बोले, 'हमें निराश नहीं होना चाहिए। गुणों से भरपूर एक फूल अपने आसपास के ढेरों झाड़-झंखाड़ों पर भारी पड़ता है।'

बड़े गुरुजी ने स्कूल के एक कोने में अपना निवास-स्थान बना लिया था। उस कोने में उनका एक बक्स पड़ा था। उसी में जो सामान था, वही उनकी पूंजी थी। इस जीवन में वे एकदम अकेले थे। निकट संबंधी कहने को कोई नहीं था। विवाह हुआ था। मगर साल-भर में ही पत्नी हैजे की बीमारी में चल बसी थी। फिर उन्होंने विवाह नहीं किया।

उनकी दिनचर्या मुंह-अंधेरे ही शुरू हो जाती थी। गंगाजी गांव से तीन कोस पर थीं। वे भोर होते-होते गंगा नहाकर लौट भी आते। उनके जीवन का यह अटूट-नियम था। जाड़ा, वर्षा, गर्मी किसी भी ऋतु में इसमें कभी नागा नहीं पड़ा। एक दिन मूसलाधार बरसात में उन्हें गंगा नहाकर लौटते हुए देखकर गांव के पंडितजी ने टोका, 'क्यों अपनी जान देने पर तुले हुए हैं बड़े गुरुजी। जब दऊ महाराज बरस रहे हैं, तब गंगा नहाने की क्या जरूरत?'

बड़े गुरुजी ने हंसकर कहा, 'प्रकृति अपना कर्म कर रही है, मैं अपना कर रहा हूं। इसमें तकलीफ कहां है पंडितजी?'

पंडितजी ने कहा, 'आपने अपने को कैसे इतना साध लिया है कि आपको कोई बाधा भी डिगा नहीं पाती?'

'यह तो भगवान जानता है। मैंने अपने जीवन को सिर्फ एक अनुशासन में ढालने की कोशिश की है।'

'यह तो बहुत बड़ी बात है। ऐसा कोई संत पुरुष ही कर सकता है। आप संत हैं।'

बड़े गुरुजी ने हंसते हुए कहा, 'पंडितजी! संत तो कबीर थे। हिंदू-मुसलमानों की आंखें खोलने के लिए अपनी कविताओं में कैसी-कैसी बातें कह गए हैं।'

पंडितजी बोले, 'हां, हमारे संतों ने समाज के लिए कितनी उपयोगी बातें कही हैं। पढ़ने वाला ही इनका आनंद ले सकता है।' फिर वे बड़े गुरुजी से विदा लेकर अपने यजमान के यहां चले गए।

उस दिन मंझले गुरुजी पाठशाला में फिर देर से आए। बड़े गुरुजी ने उनसे कहा, 'ठाकुर साहब, अगर आप देर से आने की आदत नहीं छोड़ोगे तो मैं आपसे बोलना छोड़ दूंगा।'

मंझले गुरुजी ने झेंपते हुए कहा, 'पंडितजी, कोशिश करता हूं, मगर देर हो ही जाती है।'

बड़े गुरुजी बोले, 'कल से पाठशाला की घंटी बजाने का काम आप करेंगे। पाठशाला समय से शुरू हो—यह जिम्मेदारी आपकी होगी।'

मंझले गुरुजी चुपचाप अपनी कुर्सी पर आकर बैठ गए और लड़कों को पढ़ाने लगे।

शाम को बड़े गुरुजी घूमते-घामते गांव की ओर निकल गए। गांव के सरपंच माताप्रसादजी अपने घर के बाहर नीम के पेड़ के नीचे खटिया बिछाकर बैठे हुए थे। साथ में दो-चार और लोग भी थे। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। सरपंचजी का एक चेला दरवाजे पर भांग घोट रहा था। बड़े गुरुजी को आते देख, सब खड़े हो गए।

सरपंचजी बोले, 'धन्य भाग्य हमारे, जो आप यहां पधारे।'

'कहिए सरपंचजी, आखिर मुझसे क्या जरूरत आ पड़ी?'

सरपंचजी ने बड़े गुरुजी के लिए एक खाट बिछवा दी। उनके बैठने के बाद वे बोले, 'गुरुजी, कल मेरे बच्चे का अन्नप्राशन है। इस अवसर पर आप भी पधारकर बच्चे को आशीर्वाद दें।'

बड़े गुरुजी ने कहा, 'जरूर आऊंगा।'

तभी कुछ लड़कों का झुंड उधर से गुजरा। बड़े गुरुजी ने दूर से ही पहचान लिया। उन बच्चों को बुलाकर वे बोले, 'रात हो रही है। घर में पढ़ाई के समय कहां घूम-फिर रहे हो?'

एक लड़के ने कहा, 'गुरुजी, रात को पढ़ने पर बाबू बिगड़ते हैं। कहते हैं—मिट्टी का तेल नहीं मिलता, ढिबरी मत जलाओ।' बड़े गुरुजी ने कहा, 'ढिबरी जलती भी रहे तो तुम लोग कहां पढ़ने वाले हो। खैर, कोई बात नहीं। आज से अपनी रात की पढ़ाई वहीं पाठशाला पर करना। मैं चलता हूं, तुम सब अपना बस्ता लेकर वहां पर आ जाओ।' फिर उठते हुए बोले, 'अच्छा सरपंचजी, इजाजत दीजिए।'

बड़े गुरुजी ने अपनी पाठशाला के कुछ कमजोर छात्रों को चुन लिया था, जिन्हें वे विशेष रूप से रात्रि पाठशाला में पढ़ाया करते थे। एक दिन उनका एक छात्र सुदामा रात को पढ़ने नहीं आया। उन्होंने एक लड़के को उसे बुलाने के लिए भेजा। उसने आकर बताया, 'सुदामा पढ़ने नहीं आएगा। उसकी सौतेली माई ने उसे खूब पीटा है। वह घर के बाहर बैठा रो रहा है।' बड़े गुरुजी कुछ नहीं बोले। उन्होंने उस दिन बच्चों को जल्दी ही पढ़ाकर छुट्टी दे दी। फिर वे सुदामा के घर चले गए।

घर के दरवाजे पर ही उनकी भेंट सुदामा की माई से हो गई। बड़े गुरुजी ने पूछा, 'सुदामा को आज पढ़ने क्यों नहीं भेजा?'

'वह बिल्कुल बिगड़ गया है। पढ़-लिखकर क्या करेगा?'

'आखिर बात क्या है?'

'अब क्या बात कहूं', सुदामा की माई बोली, 'एक बात हो तो बताऊं। अव्वल तो वह बड़ा जिद्दी हो गया है, कोई बात नहीं सुनता। अब संझा को बोला—भूख लगी है। मैंने रोटी, नमक-मिर्च दिया। मगर उसने अचार से खाने की जिद ठान ली। मना किया, माना नहीं। मर्तबान से अचार निकालने गया, मर्तबान तोड़ दिया। अब बताइए गुस्सा नहीं आएगा?'

'जरूर आएगा। उसे जिद नहीं करनी चाहिए थी'—बड़े गुरुजी बोले, 'मगर वह अभी बच्चा है। अभी अपने मन पर लगाम लगाना नहीं सीखा है। तुम नाराज मत हो। मैं उसे समझा दूंगा।'

सुदामा की माई भुनभुनाते हुए बोली, 'समझ चुका वह। अब तो इसके बाप आए तो हम उनसे समझ लें। सुदामा पढ़-लिख लेगा तो क्या बनेगा? किसान का बेटा है, उसे जुतना तो हल में ही है।'

'ऐसा क्यों सोचती हो?' बड़े गुरुजी बोले, 'वक्त बहुत बदल गया है।'

'जिनके लिए बदला होगा, उनके लिए। अभी भी सुदामवा के बाप पंडित की हरवाही न करें, बटाई में काम न करें तो दो जून की रोटी मिलनी मुश्किल हो जाए। घर में हर चीज के लिए कितनी किचकिच होती है, हम ही जानते हैं। इस मर्तबान को जब हम शादी के बाद पहली बार चुनार मेले में गए थे, तब खरीदा था। घर-गृहस्थी के शौक की यही एक चीज थी, वह भी टूट गई।'

बड़े गुरुजी बोले, 'अब तो वह टूट ही गई। संयोग था कि सुदामा के हाथों टूटा। तुम्हारे हाथ से भी टूट सकता था। आदमी टूट जाता है। फिर यह तो मर्तबान था।'

सुदामा की माई बोली, 'माफ करें बड़े गुरुजी, हमारा कलेजा बहुत जल रहा है।'

बड़े गुरुजी दुखी होकर लौट आए। उन्हें रात-भर नींद नहीं आई। कोई बात थी जो रह-रह कर उन्हें कचोट रही थी। दूसरे दिन पाठशाला की छुट्टी थी। इस दिन भी वे मुंह-अंधेरे ही उठे। गंगा-स्नान के लिए गए। मगर रोज की तरह सुबह होते-होते लौटे नहीं। दोपहर बीत गई, यहां तक कि रात हो गई, मगर उनका पता नहीं था।

शाम को मंझले गुरुजी उनका पता लगाने शहर तक गए। अपने सहयोगी छोटे गुरुजी से मिले। उन्हें भी कुछ मालूम नहीं था। दोनों ने मिलकर शहर के सभी स्थानों को छान लिया, मगर बड़े गुरुजी का कहीं अता-पता न था। गंगा के हर घाट पर जाकर मछुआरों से भी पूछा। यह भी पता लगाया कि उस दिन किसी के डूबने की घटना तो नहीं हुई। मगर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था। सवाल यही था कि बड़े गुरुजी बिना किसी को बताए आखिर गए कहां? आखिरकार वे दोनों थके-हारे गांव लौट आए।

अब तक पाठशाला में छोटी-मोटी भीड़ जमा हो गई थी। जितने मुंह, उतनी बातें। गांव में किसी ने अफवाह फैला दी थी कि बड़े गुरुजी डूब गए। तय हुआ कि रात-भर और देख लिया जाए, नहीं तो सुबह कुछ और प्रयास किए जाएंगे। पंचों की राय होगी तो नदी में जाल भी डलवा दिया जाएगा।

पाठशाला के अहाते में रात को जब सब इसी उधेड़बुन में पड़े थे, तभी उन्हें अंधेरे में एक परछाईं नजर आई, कुछ-कुछ बड़े गुरुजी जैसे। मंझले गुरुजी ने अपना गला साफ करते हुए पूछा, 'कौन है?'

बड़े गुरुजी थे। लालटेन की रोशनी में आने पर लोगों ने पहचान लिया। स्कूल में भीड़ देखकर किसी आशंका से बड़े गुरुजी ने घबराते हुए पूछा, 'यहां पर भीड़ कैसी? सब कुशल तो हैं न?'

'जब आप आ गए हैं तो अब सब कुशल ही है', सरपंचजी बोले, 'मगर आप अभी तक थे कहां? हम लोग आपके लिए दोपहर से परेशान हैं।'

बड़े गुरुजी ने कहा, 'सुबह जब मैं गंगा नहाने निकला तो पता चला कि आज चुनार में मेला है। मेरा भी चुनार में गंगा नहाने को मन हो गया। बस (मोटर) में बड़ी भीड़ थी। इसलिए पैदल ही चला गया। कोई खास दूरी तो है नहीं।

'फिर भी सात-आठ कोस तो है ही।' सरपंचजी ने कहा।

'अब जो भी हो।' बड़े गुरुजी बोले, 'वहां गंगा नहाकर मन तृप्त हो गया। किले के पीछे गंगाजी का नजारा कितना सुंदर लगता है।' यह कहते हुए उन्होंने अपने कंधे पर लटकी हुई गठरी जमीन पर रख दी।

'फिर भी आपको शाम तक लौट आना चाहिए था। बस तो घंटे-भर में पहुंचा देती है।' मंझले गुरुजी ने कहा।

'वही तो कह रहा हूं'—बड़े गुरुजी बोले, 'जब बस पकड़ने पहुंचा तो वहां फिर वही आलम था। बस में तिल धरने की जगह नहीं थी और संयोग ऐसा कि मेरे पास किराए के पैसे भी कम पड़ गए थे।'

'फिर?' कई लोगों के मुंह से निकला।

'फिर वही पैदल सफर।' बड़े गुरुजी हंसने लगे।

वहां खड़ी भीड़ अपना सिर धुनने लगी। सरपंचजी बोले—'अब हम आपको क्या कहें, बड़े गुरुजी।'

'पागल!' इतना कहकर बड़े गुरुजी हंसने लगे। मगर फिर गंभीर होकर बोले, 'मुझ जैसे अनाथ व्यक्ति के लिए आप लोगों के मन में इतनी ममता होगी, मालूम नहीं था। मालूम होता तो इतनी चिंता में न डालता। आप सबको जो कष्ट हुआ, इसका मुझे खेद है। मुनासिब हो तो मुझे क्षमा करें।'

पंडित रामअवतार बोले, 'ऐसा कहकर हमें शर्मिंदा मत कीजिए। अब हम लोग चलते हैं, बड़े गुरुजी, आप भी आराम करें।'

बड़े गुरुजी ने अपने दोनों सहयोगियों को भी हाथ जोड़कर घर जाने के लिए कहा। मंझले गुरुजी ने पूछा, 'आपके लिए भोजन का कुछ प्रबंध कर दें?'

'आज व्रत का दिन है।' बड़े गुरुजी बोले, 'आज कुछ नहीं खाऊंगा। जो खाना होगा कल सुबह खाऊंगा। आप लोग दिन-भर काफी परेशान हुए हैं। अब आप दोनों घर जाएं और आराम करें।'

उनके चले जाने के बाद बड़े गुरुजी पाठशाला के वीरान अहाते में कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। फिर वे धीरे-धीरे सुदामा के घर की ओर चल पड़े। थोड़ी देर पहले भीड़ में उन्होंने सुदामा के पिता को भी देखा था, मगर वह न जाने कब खिसक गया था। उसके घर पहुंचकर उन्होंने देखा, सुदामा का पिता अकेला बैठा कुछ सोच रहा था। उसने बड़े गुरुजी को अपने घर की

ओर आते देखा तो कुछ चौंकते हुए उठ खड़ा हुआ। दोनों हाथों को जोड़ते हुए उसने कहा, 'प्रणाम गुरुजी।'

बड़े गुरुजी बोले, 'तुम बिना मुझसे मिले वहां से चले क्यों आए? मुझे तुमसे कुछ काम था।'

'जी, हुक्म कीजिए।'

बड़े गुरुजी अपनी गठरी खोलते हुए बोले, 'देखो तो यह मर्तबान कैसा है! मैं चुनार गया था, वहां से अपनी बिटिया के लिए इसे लेता आया हूं। सुदामा की माई को बुलाओ।'

'मगर बड़े गुरुजी?'

'उसे बुलाओ तो सही।'

सुदामा की माई को बुलाने की जरूरत नहीं पड़ी। वह किवाड़ की ओट में ही खड़ी थी और धीरे-धीरे बाहर निकल आई और बड़े गुरुजी के पैरों पर गिर पड़ी।

बड़े गुरुजी ने पीछे हटते हुए कहा, 'अब यह पाप न लगाओ। बेटी बड़ी हो जाती है तो उसे बाप के चरणों में गिरना शोभा नहीं देता।'

सुदामा की माई ने कहा, 'गुरुजी, कल गुस्से में मेरी जुबान से न जाने क्या-क्या निकल गया था। मुझे माफ कर दीजिए।'

उसकी आंखों से पछतावे के आंसू बहने लगे थे।

बड़े गुरुजी ने अपने हाथ का मर्तबान उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'अब इसे पकड़ो। दोपहर से लादे-लादे हाथ-पीठ दुखने लगे हैं। जरा देखकर बताओ ठीक-ठाक है कि नहीं, कहीं मैं ठगा तो नहीं गया।'

सुदामा की माई उसे लेते हुए बोली, 'हमें बिटिया माना है तो आज आपको बेटी के हाथ का भोजन लेना पड़ेगा। आप दिन-भर के थके-मांदे हैं। ऐसे नहीं जाने दूंगी।'

सुदामा का पिता अभी तक जड़ बनकर खड़ा हुआ था, उसमें भी चेतना लौटी। बोला, 'हां, बड़े गुरुजी! आपको यहीं खाना पड़ेगा।'

बड़े गुरुजी ने कहा, 'आज तो मेरा व्रत है। फिर बेटी के घर में तो लोग वैसे भी नहीं खाते। मगर कोई बात नहीं। मैं अंधविश्वासी नहीं हूं, मेरी बेटी कहती है तो मैं खा लूंगा।'

सुदामा की माई खुश हो गई। उसे अंदर जाते देखकर उसे टोकते हुए बड़े गुरुजी ने कहा, 'मगर एक शर्त पर, सुदामा को पाठशाला भेजना न भूलना। आज हर गरीब बच्चे की पहली जरूरत है उसे सही शिक्षा हासिल हो, जिससे वह जिंदगी की चुनौतियों का सामना कर सके। और हां, साथ में तुम दोनों को भी रात की पाठशाला में आकर अक्षर-ज्ञान सीखना होगा। इसमें सबकी भलाई है।'

सुदामा के पिता को लगा जैसे सामने खड़े बड़े गुरुजी कोई देवदूत हों, जो सबकी मुक्ति का संदेश लेकर आए हों। उसकी आंखों से टप-टप आंसू बहने लगे। ❖

मनुष्य की बड़ी लाचारी है और बड़ी शक्ति है कि वह छोटे-से निज से संतुष्ट नहीं रह सकता। उसे निजी भी कुछ चाहिए और वह निजी या अपना बनाने के लिए बराबर ललकता रहता है। बच्चा भी अकेलापन नहीं सहता और सिद्ध योगी भी एकांत केवल परात्पर से मिलने के लिए, घर के रूप में स्वीकार करता है। इस पर की चाह या दूसरे की चिंता मनुष्य के स्वभाव में निहित है। वह जितना अपनापन पाना चाहता है उतना ही देना चाहता है, बांटना चाहता है, अपने पास जो-कुछ भी है, क्योंकि उसे लगता है—अकेले उसका कुछ नहीं और अपने को बंटाने से सब-कुछ अपना लगने लगता है। यह वृत्ति ही मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के मूल में है।

—विद्यानिवास मिश्र

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 ı Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926/0640, Fax-22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।